UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186063

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—787—13-6-75—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 A81S Accession No. P.G.H5834

Author अश्क, उपेन्द्रनाथ.

Title सड़कों पे ढलते साये. 1960.

This book should be returned on or before the date last marked below.

सड़कों पे ढले साये

सड़कों पर ढले साये — अश्क जी की नयी कविताओं का सरस संग्रह है। अश्क निःसंग अभिव्यक्ति के वैसे कायल नहीं। व्यक्तिगत अनुभूति और वस्तु के साथ उस अनुभूति का तादात्म्य उनके काव्य की पहली शर्त है। वे जो स्वयं अनुभव करते हैं, उसे भावना के उसी अनुपात से पाठकों को महसूस करा देने की क्षमता रखते हैं।

सरलता, सुबोधता, प्रभावों और प्रतीकों की बोधगम्यता तथा विचारों और अनुभूतियों की विविधता उनके काव्य की लोकप्रियता का मुख्य कारण है। संकलित रूप में प्रकाशित होने से पहले इस संग्रह की कई कविताएँ विदेशी भाषाओं में अनूदित और पाठ्य पुस्तकों में संकलित हो गयी हैं।

सड़कों पे ढले साये

[५३ से ६० तक की कविताएँ]

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद-१

● प्रथम संस्करण – १९६०

● मूल्य -

● प्रकाशक – नीलाभ प्रकाशन, ५ खुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद

● मुद्रक – सम्मेलन मुद्रणालय, इलाहाबाद

● चित्रकार – एसोसिएटिड आर्टिस्ट्स, दिल्ली

● फ़ोटो – श्रीमती कौशल्या अश्क

अनुक्रम

नयी कविता : पुराना कवि : ९

जिन्दगी के जंगलों में : ३७

बरसात की शाम : ४०

टेरता पारखी : ४३

तसल्ली : ४६

ज़हर कि जो अमृत है : ५०

पीला चाँद : ५१

सँगतरी चाँद : ५४

दलदली दिन : ५५

खिला दिन : ५९

छिपकली-सी-मुहब्बत : ६१

मछली : ६४
मिड्थाकरों का गीत : ६५
कवि : ६७
एक सम्वाद : ६९
सपने में : ७२
नार्सिसस का उपदेश अपने बेटेको : ७३
क्षमा करना : ७८
भेंट : ८१
आदमी यह सोचता है : ८२
कौन जाने : ८३
सड़कों पे ढले साये : ८४
घन बूँदनियाँ बरसें : ८५
पानी की खानी है : ८६
दूर के ओ मीत : ८७
आग अचीन्ही : ८८
सितारे कूद जायेंगे : ८९
बकरौट की ढलान पर : ९१
विशाखापट्टम के सागर-तट पर : ९४
काम से थक कर : १००
चट्टान : १०२
वट का बिरवा : १०५
वयस का कार्तिक : १०६
अप्रैल की चाँदनी : १०९

●

अप्रैल की चाँदनी के नाम

कवि

नयो कविता : पुराना कवि

दो वर्ष पहले लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी-छात्रों की एक गोष्ठी में मैंने प्रस्तुत संग्रह की कुछ कविताएँ पढ़ीं, तो एक छात्र ने, जो हिन्दी के एम० ए० थे, विश्वविद्यालय में अनुसन्धान कर रहे थे और शायद कुछ कविता-अविता भी करते थे, सहसा पूछा, "अश्क जी, आप अपनी इन कविताओं को नयी मानेंगे या पुरानी ?"

"एकदम नयी !" मैंने कहा, "इधर बरसों बाद मैंने ये कविताएँ लिखी हैं।"

"मेरा यह अभिप्राय नहीं," उन्होंने कहा, "आपकी ये कविताएँ 'नयी कविता' के अन्तर्गत आती हैं कि नहीं ? मैं यह जानना चाहता हूँ।"

मैं क्षण-भर को अचकचाया, क्योंकि इस बात पर मैंने कभी विचार ही न किया था। फिर जैसा कि मेरी आदत है, हँसकर मैं टाल गया और अपनी कविताओं की विवेचना करने के बदले, मैंने कुछ और कविताएँ सुनाकर, उनका मनोरंजन करने की सोची।

मेरी मुसीबत यह है कि मुझे लिखने में जितना आनन्द मिलता है, उतना उसके व्याख्या-विवेचन में नहीं। दूसरे उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना करें तो मज़ा ले लेता हूँ, लेकिन स्वयं अपनी रचना के सम्बन्ध में अधिक विवेचना नहीं कर पाता। यही कारण है कि मैंने अपनी कृतियों के बारे में संस्मरण चाहे कितने भी क्यों न लिखे हों, शास्त्रीय विवेचना बहुत कम

की है और अपने दर्शन और विचारधारा के बारे में तो प्रायः मैंने कुछ भी नहीं लिखा।

मैं जानता हूँ कि आज का हिन्दी-लेखक, विशेषकर कवि––इस बात पर ज़्यादा ज़ोर देता है। हिन्दी के रिसर्च-स्कालर (याने भावी आलोचक) प्रायः जो प्रश्नावलियाँ भेजते हैं, उनमें दर्शन, विचार, वर्तमान समस्याओं के समाधान, साहित्य की प्रेषणीयता, साधारणीकरण, निःसंग अभिव्यक्ति, और न जाने किन अल्लम-ग़ल्लम बातों के बारे में प्रश्न रहते हैं। उनका उत्तर दे पाना मेरे-जैसे लेखक के लिए, जिसने हिन्दी बाकायदा विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ी, नितान्त असम्भव है। सृजन की प्रेरणा मेरे यहाँ इतनी बलवती रही है, इतनी विधाओं में बँटी रही है कि उसकी व्याख्या अथवा विवेचना का समय मेरे पास प्रायः नहीं रहा, और अब भी, जब मुझे लिखते हुए ३५ वर्ष होने को आये हैं और मुझसे इस बात की अपेक्षा रखी जाती है, मुझे इन बातों के सम्बन्ध में लिखते समय बड़ी उलझन होती है।

मैं जब-जब दौरों पर गया हूँ (और मैं पिछले कुछ वर्षों में एक ओर दूर दक्षिण और दूसरी ओर बिहार, बंगाल तक घूम आया हूँ) साहित्यिक गोष्ठियों में बराबर ये कविताएँ पढ़ता और स्नेहियों को सुनाता रहा हूँ। मैंने पाया है कि श्रोताओं ने इन्हें 'नयी' कविता भी माना है और पुरानी भी।

लिखते वक्त मैंने कभी रूपाकार के बारे में सरदर्दी मोल नहीं ली। वर्षों से साहित्य का अध्ययन करते हुए, दसियों रूप और आकार मन पर अंकित हैं। जब कोई नयी चीज़ सूझती है तो अपने-आप उपयुक्त रूप ग्रहण कर लेती है। आरम्भ में भी, जब न साहित्य के अध्ययन की उतनी सुविधा थी, न रूपाकार और शिल्प-सौष्ठव का उतना ज्ञान था, मुझे कभी इसकी चिन्ता नहीं हुई। मैंने पंजाबी कवि के रूप में साहित्य के क्षेत्र में क़दम रखा। फिर कुछ वर्षों तक उर्दू में ग़ज़ल लिखता रहा। फिर सात-आठ वर्ष तक कहानियाँ लिखीं। इसके बाद जब फिर कविता लिखने को मन हुआ तो मैं हिन्दी में लिखने लगा था। हिन्दी-काव्य के छन्दों का कुछ भी ज्ञान नहीं था, पर यह

कठिनाई मेरे मार्ग की बाधा नहीं बनी। मैंने एक कवि-मित्र से एक छन्द का पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया और अपने उस मूड की पन्द्रह-बीस कविताएँ उसी छन्द में लिख डालीं, जो बाद में मेरे प्रथम कविता-संग्रह 'प्रात-प्रदीप' में संकलित हुईं।

'प्रात-प्रदीप' के बाद छन्दोबद्ध कविताएँ लिखते हुए एक रात मैं घर आकर लेटा तो ये पंक्तियाँ दिमाग़ में कौंध गयीं:

हम मिले,
मुझे मालूम हुआ—
तुम तरुण नदी हो,
तूफ़ानी,
अनजानी
गिरिमालाओं में बहने वाली।
इठलाती,
बल खाती,
बहती और बहाती—
पाषाणों को,
चट्टानों को,
गिरि के उर को चीर निकलती
और मचलती
चलती हो उद्दाम।[1]

सुबह सबसे पहले मैंने यह कविता समाप्त की, फिर कोई दूसरा काम किया। 'प्रात-प्रदीप' की कविताओं के शिल्प और इस कविता के शिल्प में वही अंतर है, जो मेरी कहानियों 'नरक का चुनाव' और 'नासूर' में—यद्यपि लिखने की अवधि में अधिक अंतर नहीं। यह कविता यों कहूँ कि पूरी-

---

१. 'देवि मैं पूछ रहा हूँ तुम से'—ऊर्मियाँ

की-पूरी इसी तरह दिमाग़ में आयी और कागज़ पर व्यक्त हो गयी। लगता है, कहीं अन्तर में गहरे सृजन की बलवती इच्छा-धारा निरन्तर चुपचाप बहती रहती है। सचेत मन किनारे की मिट्टी में अनुभूतियों के गढ़े खोद रखता है, तभी किसी आलोक-क्षण में उस अन्तःधारा से प्रेरणा की कोई उछाल आती है और किसी-न-किसी गढ़े को भर जाती है। परिमार्जन का काम बाद में होता रहता है, परन्तु उस आलोक-तरंग के बिना गढ़े रीते पड़े रहते हैं और उसके अभाव में कई बार वक्त की मिट्टी से भर भी जाते हैं।

हिन्दी-अंग्रेज़ी (और इन दोनों के माध्यम से अन्य भाषाओं की) कविताएँ मैं सदा पढ़ता रहता हूँ। प्रकट है, किसी-न-किसी का शिल्प अथवा रूप मन में बस जाता है और प्रेरणा के किसी क्षण में भावना अथवा वस्तु उसमें ढल जाती है। मैं रूप-विन्यास चाहे किसी दूसरे का अपना लूँ, परन्तु भावना अथवा वस्तु जब तक मेरी अपनी व्यक्तिगत और अनुभूत नहीं होती, मैं कभी नहीं लिखता।

'प्रात-प्रदीप' के बाद मैंने 'ऊर्मियाँ' की कविताएँ लिखीं और फिर 'सलमा'[१] नाम से एक खण्ड-काव्य शुरू किया। दुर्भाग्य से मैं ज़िन्दगी की उलझनों में फँस गया और उसे जल्दी समाप्त न कर पाया। फिर जब मैं लम्बी बीमारी में पंचगनी के सेनिटोरियम में रहा तो मैंने उसे समाप्त कर दिया और उसका नाम 'बरगद की बेटी' रखा।

'बरगद की बेटी,' उर्मियाँ के बाद ही की रचना है और इसलिए सारी-की-सारी छन्दोबद्ध है। लेकिन बीमारी ही में मैंने 'दीप जलेगा' लिखा। उसमें कुछ

---

१. 'सलमा' नाम से क्योंकि उन दिनों एक फ़िल्म काफ़ी प्रसिद्ध हो गया था, इसलिए मैंने अपने काव्य का नाम बदलकर 'बरगद की बेटी' कर दिया। नायिका का नाम तक बदल दिया। यद्यपि मुझे कभी-कभी खेद होता है कि मैंने क्यों ऐसा किया। उस फ़िल्म से तो मेरे काव्य का किसी प्रकार का सम्बन्ध न था, पर शायद मेरे अहं को यह स्वीकार नहीं हुआ कि जिस नाम से फ़िल्म बन चुका है, उसी नाम से मेरा खण्ड-काव्य छपे।

स्थल छन्दोबद्ध और कुछ मुक्त छन्द में आये। मुक्त छन्द भी 'देवि मैं पूछ रहा हूँ तुम से' की अपेक्षा काफ़ी बदल गया।

कुछ वर्ष बाद मैं फिर बीमार पड़ा। संघर्ष मेरा बहुत प्रबल था। तब मैंने फिर एक लम्बी कविता––'चाँदनी रात और अजगर' लिखनी शुरू की। कार्तिक की पूनो को जब बाहर शारदीया खिली हुई है, एक सफ़ेदपोश मज़दूर अपने बिस्तर पर जग रहा है। दिन-भर की थकी-हारी उसकी पत्नी सोयी है। शारदीया खिड़की से झाँक रही है और दसियों विचार, सपने, साधें उस बुद्धि-जीवी मज़दूर के मस्तिष्क में से होकर गुज़र जाती हैं––खिड़की में चाँद की किरणों के झाँकने के साथ कविता शुरू होती है और कुछ देर के लिए कमरे में उजेला करके फिर चली जाने वाली किरणों के साथ ही कविता समाप्त हो जाती है।––मैंने काव्य के नायक की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए 'दीप जलेगा' की शैली ही को कुछ और आगे बढ़ाया। जहाँ कहानी कहना अभीष्ट हुआ, मैंने कविता को छन्दोबद्ध रहने दिया, शेष स्थलों में मुक्त छन्द का प्रयोग किया। हाँ इसकी लम्बी पंक्तियों पर उर्दू कवि 'मीराज़ी' की शैली का प्रभाव अजाने भी रहा। यह प्रयास मैंने अवश्य किया कि चाहे 'दीप जलेगा' की अपेक्षा इस खण्ड-काव्य का रूप-विन्यास और छन्द-प्रयोग किंचित संश्लिष्ट और जटिल रहे, किन्तु वह जटिलता उसके प्रवाह के मार्ग में रुकावट न बने––छन्द छोटा हो या बड़ा, मुक्त हो या बँधा, काव्य-धारा सवेग बहती रहे।

मैं आज भी अपनी इस कविता से लगभग पूर्णतः संतुष्ट हूँ और अपने सारे काव्य-साहित्य में 'दीप जलेगा' के बाद, इसे एक उत्कृष्ट रचना मानता हूँ। कविता में कितने प्रतिशत अभिधा रहनी चाहिए और कितने प्रतिशत व्यंजना, मैं इस चक्कर में कभी नहीं पड़ता। मुझे जो कहना होता है, उसे पूरी शिद्दत से कह देता हूँ। लेकिन जैसा किसी ने कहा है––कविता में भी फ़ैशन होता है। किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग किये जाते हैं, किसी दूसरे काल में किसी दूसरी दिशा में––प्रकट है कि भेड़-चाल के कारण लोग कपड़े की देरपाई (स्थायित्व) को भूलकर उसकी बनावट-सजावट, काट-तराश के चक्कर में पड़ जाते हैं।...'चाँदनी रात और अजगर' का किसी ने नोटिस नहीं

लिया। और मुझे यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं कि मुझे बड़ी निराशा हुई, क्योंकि जैसा कि मैंने कहा—मैं उसे अपनी एक सशक्त रचना मानता हूँ।

मैंने 'गर्म राख' के दूसरे संस्करण की भूमिका में एक जगह लिखा है: 'यदि कृति अच्छी होती है तो आलोचकों की कृपा-दृष्टि के बिना भी अपना स्थान बना लेती है। हाँ, इस प्रयास में उसे समय अवश्य लग जाता है।' 'चाँदनी रात और अजगर' को अपना स्थान बनाने में छः-सात साल लग गये। इस बीच में दक्षिण भारत की एक-दो पाठ्य-पुस्तकों में इसके कुछ अंश आये, रूसी भाषा में छपने वाले एक कविता-संग्रह में इसके दो अंश उद्धरित हुए और 'नया पथ' में रमेश सिन्हा ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि ऐसी सशक्त रचना की ओर क्यों प्रगतिशील आलोचकों का ध्यान नहीं गया (वे क्या जानें कि दुर्भाग्य से प्रायः सभी प्रगतिशील आलोचक मुझसे रुष्ट हैं) लेकिन सब से अधिक प्रसन्नता मुझे कानपुर की एक युवक-संस्था का पत्रक पढ़कर हुई, जिसमें इसकी दो पंक्तियाँ:

क्या जाने इनमें से किसकी
प्रतिभा छू ले नभ के दामन!

'मोटो' के रूप में उद्धरित की गयी थीं....और फिर मेरा मन कविता लिखने को होने लगा।

एक दिन फ़ाइल में गडमड पड़े पत्रों को छाँट रहा था कि एक काग़ज़ पर लिखी हुई ये चन्द पंक्तियाँ मिलीं:

जानता हूँ—तुम न आओगी,
मगर फिर भी निरन्तर देखता हूँ राह!
कैसी बेबसी है!
जानता है मन वचन के सत्य को

पर चाहता है यह—
भरम कायम रहे;
दायम रहे
यह झिलमिलाती शाम;
चलने को रुकी गाड़ी; झुका सिगनल;
घिरे पशुओं सरीखी भीड़;
फैले बत्तियों के दाम!

न जाने कब ये पंक्तियाँ लिखी थीं और क्या लिखना चाहता था, पर वहीं काग़ज़ों को ठीक करते-करते एक चित्र दिमाग़ में आ गया और जब मैं किसी काम से 'सिविल लाइन्स' रिक्शे पर गया तो वहाँ से वापस आते-आते कविता पूरी हो चुकी थी।

और यों मेरे इस नये कविता-संग्रह का सूत्रपात हुआ।

इसके बाद अप्रैल की पूर्णिमा को सिविल लाइन्स ही से रिक्शे पर आ रहा था तो दिमाग़ में कई कविताएँ एक-साथ आ गयीं। आकर बैठा तो 'अप्रैल की चाँदनी,' 'भेंट' और 'मिडियाकरों का गीत' लिख डालीं।

तीनों की वस्तु में इतना अंतर है कि किस प्रकार वे एक प्रवाह में लिखी गयीं, इस पर मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। लेकिन मेरे लिखने की प्रक्रिया कुछ ऐसी ही है। मेरे दिमाग़ में बीसियों विचार पकते रहते हैं, अपने-आप कहानी, संस्मरण, कविता, उपन्यास आदि के ख़ानों में संचित होते रहते हैं और जब मूड आता है तो मैं लगातार कहानियाँ, नाटक या कविताएँ लिख लेता हूँ।

१९५७ में 'गिरती दीवारें' का दूसरा भाग आरम्भ करने के विचार से (जो मेरी बीमारी और उसके बाद के जीवन-संघर्ष के कारण रुका रहा था) मैं डलहौज़ी गया। वहाँ 'ठण्डी सड़क' पर संयोग से एक बड़ी ही सुन्दर कॉटेज मिल गयी। कॉटेज का नाम 'स्नो-व्यू' था। उसके बरामदे में बैठें और बादल न हों तो सामने धौलाधार का इतना सुन्दर दृश्य दिखायी देता है कि जब मेरी

पत्नी मुझे उस कॉटेज में प्रतिष्ठापित करके चली गयी और मैं बरामदे में मेज़-कुर्सी लगाकर लिखने के लिए बैठा तो उपन्यास लिखना मेरे लिए नितान्त असम्भव हो गया। मन लगातार कविता करने को होने लगा और जब दो-तीन दिन के निरन्तर प्रयास से मैं उपन्यास आरम्भ न कर पाया तो मैंने उसे उठाकर एक ओर रख दिया और कविता करने लगा। लगभग एक महीने तक मैं कविताएँ लिखता रहा और उपन्यास को तभी हाथ लगा पाया, जब मेरा वह मूड पूर्णतः समाप्त हो गया। गत दो-तीन वर्षों में जब-जब मेरा मन हुआ है, मैं ऐसे ही कविता लिखता रहा हूँ।

यह संग्रह प्रेस में देने से पहले, यह जानने के लिए कि ये कविताएँ 'नयी कविता' के अन्तर्गत आती हैं या नहीं, मैं हिन्दी के कुछ कवि-आलोचकों की पुस्तकें ख़रीद लाया, क्योंकि पश्चिम में तो नयी कविता, जिसका सूत्रपात लगभग १८७३ में फ्रांसीसी कवि रैंबों (Rimbaud) ने किया था, लगभग सौ साल पुरानी हो चुकी है।

नयी कविता के एक अलमबरदार ने नये कवि की विडम्बनाओं तथा उपलब्धियों के सम्बन्ध में मत व्यक्त करते हुए निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया है:

१. नयी कविता की विषय-वस्तु, उसकी आत्मा, उन समस्त मानव-संघर्षों को स्वीकार करके आगे बढ़ी, जो अत्यधिक आधुनिक थे।

२. नयी कविता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन प्रतीकों, बिम्बों और साधनों का प्रयोग किया, जो यथार्थ-जीवन से उपजे।

३. नयी कविता के साथ नये कवि का विश्वास उस मानव के प्रति है, जो बड़ा भले ही न हो, किन्तु लघु होने के साथ-साथ अपने प्रति जागरूक है।

४. नयी कविता का मूल भाव-स्रोत उस मनोवैज्ञानिक स्थिति के समर्थन से विकसित हुआ है, जिसमें गत दो दशकों के बीच मानव-इतिहास ने दो भयंकर युद्धों का साक्षात्कार किया है और उस साक्षी के नाते यह अनुभव किया है कि

कहाँ-कहाँ, किन-किन स्थलों पर पुराने मूल्य टूटे और बिखरे हैं। कहाँ-कहाँ, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक धरातलों पर मानव-सम्मान को अपमानित होना पड़ा है।

५. नयी कविता के परिवेश में उस छोटे-से-छोटे क्षण के प्रति भी आस्था है, जिसे अब तक महत्वहीन समझकर मानव-इतिहास ने अवहेलना की दृष्टि से देखा था।

६. नयी कविता की विषय-वस्तु और उसका भाव-स्तर मिथ्या कलाप्रियता की अपेक्षा उस सत्य को कहीं श्रेयस्कर समझता है, जो महान् न होते हुए भी मानवीय हो सकता है।

और सच मानिए, यह सब पढ़कर मुझे लगा कि प्रस्तुत संग्रह की ही कविताएँ नहीं, 'दीप जलेगा' तथा 'चाँदनी रात और अजगर' भी नयी कविता के अन्तर्गत आती हैं।

अपने एक पुराने कवि-मित्र को मैंने नयी कविता के ये प्रतिमान बताये तो उन्होंने कहा कि इनमें तीन की वृद्धि और होनी चाहिए :

● नयी कविता में---विशेषकर हिन्दी की नयी कविता में---यदि किसी पश्चिम के कवि की झलक न हो तो वह नयी कविता नहीं है।

● नयी कविता के समर्थक हिन्दी के नये कवि की शारीरिक अथवा मानसिक समस्याएँ वे हों या न हों, जो दो महायुद्धों से प्रताड़ित पश्चिम के कवियों की हैं, पर उसके लिए उन स्थितियों को बरबस अपने ऊपर लादकर उन पर कविता करना ज़रूरी है।

● भ्रमात्मक दुरूहता अथवा अति-बौद्धिकता नयी कविता की पहली शर्त है।

और मित्र ने बनारस के एक युवक कवि का उल्लेख किया, जो बड़ी अच्छी प्यारी कविताएँ लिखते थे, जिनका अपना रंग था, पर जिन्होंने 'डायलन टामस' के सचेत अनुकरण में ऐसी कविताएँ लिखनी शुरू कर दीं, जिन्हें शायद वे स्वयं भी न समझा सकें। मित्र ने एक दूसरे कवि का भी उल्लेख किया, जिन्हें कविता करते बारह वर्ष होने को आये हैं, पर जिनका दृष्टिकोण आज भी एक

किशोर का-सा (Adolescent) है, जो नये कवि का बाना पहन, प्रेयसी के फ़ीरोज़ी होंठों पर ज़िन्दगी कुर्बान करते-करते गाने लगे हैं :

हम चूहे हैं मर जायेंगे !
हम चूहे हैं मर जायेंगे !

लेकिन मैं मित्र की बात से सहमत नहीं हुआ। मुझे लगा कि किसी नये कवि ने ज़रूर उनका मज़ाक उड़ाया है, इसीलिए उनकी बातों में व्यंग्य और परिहास का पुट कटुता को छू गया है, और मेरी जिज्ञासा पूर्ववत् बनी रही।

तब मैंने नयी कविता के एक अपेक्षाकृत नये आचार्य की बानी पढ़ी। उस समय जब मैंने 'चाँदनी रात और अजगर' लिखना आरम्भ किया था, ये आचार्य नये-नये विश्वविद्यालय से निकले थे, ब्रजभाषा में कविता करते-करते खड़ीबोली में लटपटे गीत लिखने लगे थे और महादेवी वर्मा की नकल में उन्हें चित्रित किया करते थे। पर इधर कुछ वर्षों से जो नयी कविता का झंडा लेकर उठे और धड़ाधड़ नयी कविता के संकलनों का सम्पादन उन्होंने किया और नयी कविता की पैरवी में लेख पर लेख लिखे और पुराने आचार्यों को ख़म ठोंककर ललकारा तो आचार्यत्व को प्राप्त होकर ही रहे। अपनी जिज्ञासा में मैं नयी कविता के इन आचार्य की शरण में गया। उनके लेख पढ़ते-पढ़ते एक स्थल पर अपनी कविता की त्रुटि साफ़ मेरी समझ में आ गयी :

'नयी कविता नये मनुष्य की प्रतिष्ठा करना चाहती है,' एक जगह वे लिखते हैं, 'और नया मनुष्य रूढ़िग्रस्त चेतना से मुक्त; मानव मूल्यों के रूप में स्वातन्त्र्य के प्रति सजग; अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करने वाला; समाज को समस्त मानवता के हित में परिवर्तित करके नया रूप देने के लिए दृढ़-संकल्प; कुटिल स्वार्थ-भावना से विरत; संकीर्णताओं एवं कृत्रिम विभाजनों के प्रति क्षोभ का अनुभव करने वाला; हर मनुष्य को जन्मत: समान मानने वाला; मानव व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करने वाली किसी भी दैविक शक्ति या राजनीतिक सत्ता के आगे अनवनत; मनुष्य की अन्तरंग सद्वृत्ति के प्रति आस्थावान्; प्रत्येक व्यक्ति

के स्वाभिमान के प्रति सजग; दृढ़ एवं संगठित अंतःकरण संयुक्त; सक्रिय किन्तु अपीड़क; सत्यनिष्ठ तथा विवेक-सम्पन्न होगा. . . .'

और मैं सोचने लगा कि अरस्तू से लेकर महात्मा गांधी तक, एक भी विचारक-सुधारक ने मानव से इतने गुणों की अपेक्षा नहीं की, जितनी नयी कविता के ये आचार्य कर रहे हैं। और मैंने उपरोक्त उदाहरण का हवाला देकर अपने एक दूसरे मित्र को बताया कि आज मालूम हुआ, मेरी कविता क्यों नयी नहीं है—पंत जी की कुछ कविताएँ तो शायद इस मानदण्ड पर पूरी उतर भी जायँ, पर मेरी तो एक भी नहीं उतर सकती।

मित्र, जो आचार्य जी के भी मित्र हैं, और स्वभाव से कुछ हँसोड़ भी, ठठा कर हँस दिये—'आप भी अश्क जी. . .यह सब एक प्रेक्टिकल जोक (क्रियात्मक परिहास) है।' और उन्होंने बताया कि उनकी मित्र-मण्डली में एक दिन तय हुआ कि आचार्य जी को, जिन्हें उस समय हिन्दी-कविता के क्षेत्र में कोई भी न जानता था और जो कविता छोड़ अच्छे-खासे चित्र बनाने लगे थे, नयी कविता का आचार्य बना दिया जाय। सो मण्डली के एक दूसरे चित्रकार-सदस्य ने एक दिन उनके चित्र को देखकर कहा—'वाह वा! कैसा काव्यमय चित्र बनाया है आपने। आप चित्र बनाने के बदले यदि कविता करते तो पंत और महादेवी को कहीं पीछे छोड़ जाते।' और (ऐसा मित्र का कथन है) आचार्य उस दिन से गम्भीरतापूर्वक कविता करने लगे। तब मण्डली ने, जिसमें अधिकांश नये कवि थे, एक संकलन निकालने का निश्चय किया और चूँकि ऐसे आदमी की ज़रूरत थी, जो उनकी ओर से नयी कविता का झंडा उठाये और कविता कम और लेख ज़्यादा लिखे, उन्होंने आचार्य जी को उसका सम्पादक बना दिया। लेकिन उनके साथी नये कवि तो पीछे रह गये, वे न केवल स्वयं नये कवि, बल्कि नयी कविता के आचार्य बन गये। . . .और यह प्रेक्टिकल जोक आज तक जारी है।

मित्र यह सब बताकर फिर ठठाकर हँसे और बोले—'जिस संकलन में आपने नयी कविता का यह मैनीफ़ैस्टो पढ़ा, उसमें क्या आपको कोई ऐसी कविता भी दिखायी दी, जो इस नये मनुष्य की प्रतिष्ठा करती हो?'

और शायद वे सच कहते थे।

मेरे एक अन्य मित्र, जिन्हें स्वयं प्रेक्टिकल मज़ाक करने में अपूर्व सिद्धि प्राप्त है, एक दिन मुझे उस मण्डली की एक गोष्ठी में ले गये और उन्होंने कहा कि इधर अश्क जी ने कुछ नयी कविताएँ लिखी हैं, मैं इन्हें ले आया हूँ कि ये आपको भी सुनायें।

तब मैंने अपनी तीन कविताएँ 'वयस का कार्तिक,' 'अप्रैल की चाँदनी,' और 'दलदली दिन' (कि मैं उन्हें काफ़ी सफल कविताएँ समझता हूँ) सुनायीं। सब ने उनकी प्रशंसा की। मैंने कहा कि भाई, यह बताइए कि ये 'नयी कविता' के अन्तर्गत आती हैं कि नहीं? इनकी कुछ त्रुटियाँ बताइए कि मैं अपनी कला का परिष्कार करूँ। मित्र ने आचार्य जी से विशेषकर अनुरोध किया कि वे उनके बारे में अपना मत प्रकट करें और मण्डली के सभी सदस्यों ने उन पर ज़ोर दिया।

तब बड़ी गम्भीरता से आचार्य जी फसकड़ा मारकर बैठ गये और उन्होंने नयी कविता की प्रतीकात्मकता, सम्प्रेषणीयता, बिम्ब-विधान और निःसंग अभिव्यक्ति और न जाने किस-किस गुण का बखान कर मुझे यह बताया कि नयी कविता तो दूर, कविता-मात्र से मैं अभी योजनों दूर हूँ और मुझे केवल एकांकी और कहानी लिखनी चाहिए।

तब एक के बाद एक, मण्डली के सभी सदस्यों ने आचार्य जी के मत का समर्थन किया। आचार्य गद्‌गद हो गये और बड़ी मीठी, प्यारी विजयभरी मुस्कान उनके होंठों पर खेलने लगी। फिर उस मदारी की तरह, जो विपक्षी को मात देने के लिए अपने जमूरे को खड़ा कर दे, उन्होंने अपने निकट बैठे एक ठिगने-से व्यक्ति से कहा कि मियाँ अब तुम ज़रा अपना करिश्मा दिखाओ!

और मियाँ जमूरे ने सचमुच एक नयी कविता सुनायी। कविता इतनी नयी थी कि मुझे उसी वक्त याद हो गयी:

चूहा कौवे से डरता था,
कौवा बिल्ली से डरता था,

बिल्ली कुत्ते से डरती थी,
कुत्ता बाघ से भयभीत था,
मनुष्य डर को भगाना जानता है—
उसने सरकस खोल दिया
और
सबको एक नाँद में पानी पिला दिया।

आचार्य ने इस कविता और इसकी नयी भावभूमि की जो व्याख्या की, उसका सब ने समर्थन किया और बच्चे जमूरे की पीठ ठोंकी कि तुम ऐसी कविताएँ लिखते रहोगे तो यदि इलियट जल्दी परलोकगामी न हो गया तो वह एक दिन अवश्य तुम्हारे दर्शनों को भारत आयेगा।

और मुझे लगा कि मैं सचमुच पुराना कवि हूँ। दूसरे जन्म की बात अलग है, इस जन्म में तो 'नयी कविता' कदापि नहीं लिख सकता।

लेकिन एक दिन जब मैं 'नयी कविता' के युग का (अपने ही कथनानुसार) आविर्भाव करने वाले एक कवि की पुस्तक पढ़ रहा था तो मैं फिर दुविधा में पड़ गया :

'आज के कवि की समस्या साधारणीकरण और सम्प्रेषण की समस्या है,' उन्होंने एक जगह लिखा है, 'जो व्यष्टि का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय, यही पहली समस्या है (जो नये कवि को) प्रयोग-शीलता के लिए ललकारती है और नया कवि वैशिष्ट्य के लिए नहीं, साधारणत्व के लिए प्रयोग करता है।'

तब लगा, कि मैं ठीक मार्ग पर हूँ और मेरी पहले की कविताएँ —विशेष-कर 'दीप जलेगा' और 'चाँदनी रात और अजगर' भी नयी कविता के अन्तर्गत आती हैं, क्योंकि मेरी पुरानी छायावादी कहलाने वाली[1] कविताओं की तुलना

---

१. पूर्ण छायावादी कहलाने वाली कविताएँ मेरे यहाँ नहीं के बराबर हैं,

में जो प्रयोग उनमें हैं, वे वैशिष्ट्य के लिए न होकर साधारणत्व के लिए ही हैं और मन की भावनाओं और विचारों को उनके माध्यम से ठीक रूप में उतारते वक्त मैंने इस बात का ख़याल रखा है कि वे व्यष्टि-सत्य को समष्टि-सत्य में परिणत करने का उत्तरदायित्व उठा सकें।

दूसरे दिन मैंने अपनी जिज्ञासा और दुविधा एक ऐसे कवि-मित्र के सामने रखी, जो अपने-आप को हिन्दी के पाँच 'नये' कवियों में एक मानते हैं। उन्होंने कहा कि आपकी कविताओं का सबसे बड़ा दोष उनमें छन्द का मोह है। नया कवि कम-से-कम शब्दों में अपनी बात कहना चाहता है। नयी कविता का सबसे बड़ा गुण उसकी भाव-संहिति और भाव-समुच्चय है।

मैंने उन्हें तभी लिखी अपनी एक छोटी-सी कविता सुनायी :

मछली गिरी
बाँध के प्रपात में
मुड़कर उछली, चढ़ गयी बाँध पर,
उलटी तिरती चली गयी वह
नहीं मुड़ी फिर।

क्या मैं भी मछली हूँ?

'गिर कर उठता हूँ, उछलता हूँ,
प्रपात पर चढ़, उलटा तिरता हूं।'

यह धारा जब-जब गिरायेगी,
मैं उछलूँगा!
उठूँगा!!

मेरी आरम्भिक कविताओं में छन्द चाहे हिन्दी के हों, पर प्रभाव उर्दू का अधिक है।

कविता सुनकर वे बोले, 'अच्छी है ! . . . .ख़ूब है।' फिर क्षण-भर रुक कर उन्होंने कहा, 'लेकिन भाव-संहिति की इसमें भी कमी है ! ज़रा-से फेर-बदल से कविता 'ए-वन' हो सकती है।'

कविता के ए-वन बन जाने के मोह में मैंने कहा, 'आप ज़रा इसे ठीक कर दीजिए।'

उन्होंने वहीं बैठे-बैठे मेरी बयाज़[1] में कविता के सामने उसे निम्नलिखित रूप में लिख दिया :

मछली गिरी
बाँध के प्रपात में
मुड़कर उछली—
चढ़ गयी बाँध पर—
उलटी
तिरती चली गयी—
नहीं मुड़ी फिर।

क्या मैं भी मछली हूँ ?

धारा यह
जब-जब गिरायेगी
उछलेगी वह
क्या मैं भी ??

मुझे उनका छठी पंक्ति में शब्द 'वह' काट देना ठीक लगा, लेकिन शेष संशोधन ठीक नहीं जँचे। कवि बाँध के किनारे खड़ा देखता है कि बाँध के प्रपात

---

१. वह कापी अथवा नोटबुक, जिसमें चुनी हुई कविताएँ या लेख नोट किये जायें।

से मछलियाँ गिरती हैं। कोई-कोई मछली गिरते ही उछलती है, प्रपात पर चढ़कर उलटी तिरती चली जाती है। कवि सोचता है, क्या उसमें भी यह गुण है—जीवन की कई घटनाएँ उसके मस्तिष्क में कौंध जाती हैं। वह आश्वस्त हो जाता है कि हाँ, उसमें भी यह गुण है। तब वह आत्मविश्वास के साथ कहता है :

धारा यह जब-जब गिरायेगी,
मैं उछलूंगा !
उठूंगा ! !

कविता ठीक कर, उन्होंने मुझे समझाया (यह कहने की ज़रूरत नहीं कि टी० एस० इलियट ही के हवाले से) 'कविता ज्यों-ज्यों वर्णनात्मकता से भावनात्मकता की ओर बढ़ती है, उसमें शब्दों के चुनाव की सतर्कता बढ़ती जाती है और भावनात्मक कविता में ज्यों-ज्यों कवि निवेदन से ज्ञापन की ओर बढ़ता है, शब्द-संयम का उसका आग्रह भी बढ़ता जाता है। नया कवि कम से कम शब्दों द्वारा कुछ मूर्तियों की उद्‌भावना को अत्यन्त प्रभावोत्पादक बनाना वांछित मानता है।'

मित्र जब चले गये और मैंने उस कविता को फिर पढ़ा और भाव-संहिति और शब्द-समुच्चय वाली उनकी बात पर विचार किया तो मुझे लगा कि उन्होंने व्यर्थ ही इतनी सारी पंक्तियाँ रहने दीं। कम से भी भाव व्यक्त हो सकता था। मैंने उसमें फिर काट-छाँट की तो उसका रूप कुछ यों बना :

बाँध के प्रपात में--गिरती,
उछलती, चढ़ती, तिरती
और न मुड़ती--
मछली
मैं !

लेकिन फिर सोचा कि इनकी भी क्या ज़रूरत है, और भी कम शब्दों से काम चल सकता है :

बाँध के प्रपात में गिरती, उछलती
उलटी तिरती मछली
मैं !

फिर और सोचा तो पाया कि बाँध और मछली के उल्लेख-मात्र से क्या सम्पूर्ण क्रिया आँखों के आगे नहीं आ जाती। और कविता का अंतिम रूप कुछ यों बना :

बाँध का प्रपात,
मछली,
मैं !

मैंने कविता का यह अंतिम रूप अपने साथी सुरेन्द्रपाल को सुनाकर राय पूछी तो वे बोले, 'यह तो कविता का शीर्षक हुआ। कविता सुनाइए !'

और हम दोनों ठठाकर हँस दिये।

बात वास्तव में यह है कि नया कवि साधारणत्व और सम्प्रेषण की बात चाहे जितनी कहे, आग्रह उसका वैशिष्ट्य ही का है। जिस प्रकार नया चित्रकार प्रयोग करता-करता उस स्थल पर आ गया है, जहाँ कोरा काग़ज़ उसे दसियों चित्रों से अधिक प्रभावोत्पादक तथा व्यंजक दिखायी देता है, उसी प्रकार प्रयोग करते-करते नया कवि 'मौन को ही अंतिम उक्ति' मान लेना श्रेयस्कर समझने लगा है।

उस रात मैं लेटा तो मैंने कल्पना में अपने-आप को बीसियों जाने-अनजाने नये कवियों में घिरा देखा। मेरे सामने इलियट अपनी बड़ी-बड़ी आँखों, किंचित पिचके कल्लों (कि उम्र ने उनका भराव छीन लिया है) पतले होंठों, सुतवाँ नाक और छोटी ठोढ़ी के साथ आया। मैंने कहा कि हे महाभाग ! तुम महान कवि हो। तुमने अंग्रेज़ी कविता की धारा मोड़ दी है। पश्चिम और पूरब के दर्शन का सामंजस्य अपनी कविताओं में प्रस्तुत कर, पश्चिम के कुंठित मानव को नयी आस्था दी है। भावनाओं के बदले विचारों का महत्व

माना है। मुझे शक्ति दो कि मैं तुम्हारी अंधी नकल करने के प्रयास में अपनी भावनाओं का गला न घोंटूँ। मेरी कुंठा पश्चिम के मानव की कुंठा नहीं। मैं उस कुंठा को अपने ऊपर न लादूँ!

इलियट के बाद एक साथ ब्रेट, मायकोवस्की और पाब्लो नेरूदा की आकृतियाँ मेरे सम्मुख आ गयीं—मायकोवस्की का वह उन्नत भाल, पंजाबी पठान की-सी सशक्त काठी, स्वाभिमान-भरी आँखें और दृढ़ता के ज्ञापक होंठ, और पाब्लो नेरूदा का दोहरा बदन, हाईकोर्ट के न्यायाधीश की-सी आकृति...और मैंने कहा कि हे महान कवियो! तुम्हारी ओज-भरी वाणी मेरी शिराओं में रक्त का संचार कुछ तेज़ कर देती है, मैं उसकी शक्ति का कायल हूँ, पर वर दो कि मैं उसकी अंधी नकल न करूँ और समसामयिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं को अपनी कविता का विषय बनाऊँ तो उसी वस्तु को लूँ जो मेरी अनुभूत हो, जिसके बारे में मैं स्वयं शिद्दत से महसूस करूँ। मेरी अनुभूतियाँ मेरी कविता में उतरें, दूसरों के आदेश नहीं....

और तब डायलेन टामस अपने गोल गुलगोथने मुख, मोटे होंठों, बिखरे बालों और फक्कड़ आकृति के साथ मेरे सामने आया। मैंने कहा कि हे आत्मा के अंधकार में झाँकने वाले गायक, तुम्हारी अभिव्यक्ति की शक्ति, प्रतीक-योजना, शब्दों का चुनाव और प्रवाह मेरा मन मोहता है। तुम मृत्यु को नापते हुए विद्रोही की तरह जीवन से खेल गये। पर मैं मौत से डर कर, शराब में डूब, जीवन का गला घोंटने में विश्वास नहीं रखता। मैं बूँद-बूँद जीवन का रस पीना चाहता हूँ और कटु हो कि मधुर, उस रस को अपने साहित्य द्वारा पाठकों को चखाना चाहता हूँ। दुआ करो कि तुम्हारी गहरी दृष्टि मुझे मिले, पर वह मेरी रचनाओं में अस्पष्टता न लाये। ऐसा न हो कि वे केवल मन को छुएँ और समझ में न आयें....

और फिर मेरे सामने नये हिन्दी-कवियों की भीड़ आ गयी, जिनमें कोई इलियट बना जा रहा था, कोई नेरूदा, कोई मायकोवस्की, कोई बादलेयर, कोई मेलारमे और कोई डायलेन टामस, और मुझे संतोष हुआ कि मैं अपने काव्य में 'मैं' हूँ, और मैंने मनाया कि आगे भी मैं 'मैं' ही रहूँ।

नयी कविता : पुराना कवि

प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ 'नयी कविता' के अन्तर्गत आती हैं कि नहीं, मैं आज भी यह तय नहीं कर सका। विश्व-साहित्य में आधुनिक कविता, जैसा कि मैंने कहा, लगभग तीन-चौथाई सदी पहले रैंबों (Rimbaud) से आरम्भ होकर प्रतीकवाद और अति-यथार्थवाद (Symbolism & Surrealism) की पुरपेच गलियों से होती हुई, एक ओर रिल्के (Rainer Maria Rilke) की आस्था की खोज और दूसरी ओर ब्रेट (Bertolt Brecht) के अ-व्यक्तिवादी, अतिबौद्धिक, प्रचारात्मक पथ पर पहुँची। फिर उधर येट्स (Yeats) ने घोषणा की कि उत्कृष्ट कला-कृति नितान्त अकेले व्यक्ति का सामाजिक कर्म है, इधर लारेंस ने बुद्धि के विरोध में मूल वृत्तियों (Basic Instincts) की स्थापना की। पर तभी इलियट और ऑडेन भावनाओं की तुलना में विचारों की प्रधानता को लेकर आये और कविता कवियों के पढ़ने की चीज़ होकर रह गयी। इलियट ने पहले बौद्धिक व्यंग्य का सहारा लिया, फिर उसको छोड़, बौद्धिक आस्था को अपनाया। तब डायलेन टामस अपने जन्मस्थान के प्राचीन पुराणों और उनकी प्रतीकात्मक शक्ति के साथ काव्य-क्षेत्र में उतरा और आत्मा के अँधेरे को टटोलता हुआ प्राचीन मानव की उद्भावनाओं का व्याख्याता बना।

कविता भावना-प्रधान न हो, विचार-प्रधान हो; बाहर की बात न कहे, अन्तर की बात कहे; अन्तरमन के—अर्धचेतन, उपचेतन अथवा अवचेतन में उठने वाले—अस्पष्ट चित्रों को चित्रित करे या मन की गहरी, अँधेरी घाटियों में पनपने वाली असाधारण अथवा असामान्य विकृतियों को वाणी दे—मुझे इनमें से किसी बात में कोई आपत्ति नहीं। मैं केवल इतना जानता हूँ कि कवि जो शिद्दत से महसूस करता है (काव्य की सफलता के लिए मैं निःसंग अभिव्यक्ति को अनिवार्य्य नहीं मानता) यदि उसको कविता में चित्रित करे तो वह प्राण-वान होगी और उसके-जैसे सोचने और महसूस करने वालों को रुचेगी। कवि को यदि विकृतियाँ परेशान किये हुए हैं और वह उन्हें कविता के माध्यम से व्यक्त कर देता है तो न केवल वह अपने मानसिक द्वन्द्वों का खात्मा कर लेगा, बल्कि अपने-जैसे दूसरों के दिलों के जाले भी साफ़ करने में मदद देगा। यदि उसे बाहर

की तमाम समस्याएं बेकार मालूम होती हैं और उनके अन्तर्भूत सत्य अपनी ओर खींचते हैं और वह विचारों और आदर्शों की ओर आकर्षित होता है तो उन्हीं को अपनी कविताओं में लाये—उसने समस्याओं पर यदि गम्भीरता से सोचा है, अध्ययन और अध्यवसाय से जीवन और उसके सत्यों को समझा और परखा है तो उसकी बात अवश्य प्रभावोत्पादक होगी और पाठकों को सोचने पर विवश करेगी। राजनीतिक हलचलें, मतवाद, आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ और उनके समाधान उसको कोंचते हैं और वर्तमान व्यवस्था से असन्तुष्ट होकर वह कोई नया भौतिक मार्ग खोजता है और उसका निर्देश करता है तो हो सकता है मन की गहराइयों में टामकटोये मारने वाले प्रतीकवादी को उसकी अभिधामूलक कविताएँ पसन्द न आयें, लेकिन यदि कवि ने अपने एहसास की पूरी शिद्दत के साथ उन्हें लिखा है तो उनका वांछित प्रभाव पाठक पर ज़रूर पड़ेगा। मेरे विचार में प्रश्न न रूपाकार का है, न 'यह' अथवा 'वह' लिखने का, प्रश्न कवि की अपनी दयानतदारी का है। यदि उसने दयानतदारी से अपनी भावनाओं अथवा विचारों को व्यक्त किया है तो उसका कृतित्व सफल है। यदि उसने केवल फ़ैशन के लिए अपनी सहज धारा को रोक कर दूसरी ओर लगाने का प्रयास किया है तो कुछ समय के लिए चाहे उसे संतोष हो जाय, उसकी कविता चिरजीवी नहीं होगी।

मेरी इन कविताओं में एक-साथ कई तरह की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हो सकती हैं—मेरे नाटकों, उपन्यासों और कहानियों में भी हैं। मेरे निकट सबसे महत्व की चीज़ वस्तु है, फ़ार्म अथवा रूपाकार नहीं। रूप और शिल्प इसलिए हैं कि वस्तु को पूरी तरह उजागर कर दें। शिल्प और प्रयोग का मोह यदि कवि को मौन के द्वार पर ला खड़ा कर दे तो मुझे वह ग्राह्य नहीं। जिसके पास कहने को कुछ है, वह क्या इसलिए चुप रह जायगा कि शब्द अति प्रयोग से घिस गये हैं। वह पुराने घिसे-पिटे शब्दों को नये अर्थ क्यों न देगा? दूर क्यों जायं, उर्दू के प्रसिद्ध कवि फ़ैज़ ने गुलो-बुलबुल, बादा-ो-सहबा, दारो-रसन आदि सदियों के घिसे-पिटे शब्दों को नये राजनीतिक अर्थ दिये हैं।

जो भावना, विचार, अन्तर्भूत सत्य जिस रूपाकार में ठीक व्यक्त हो सके, वैसा अपना लेने में मुझे कभी संकोच नहीं होता। हिन्दी-साहित्य में किसी तरह का युग-प्रवर्तन करने की मेरी साध कभी नहीं रही। अपनी अनुभूतियों और विचारों को उनकी शिद्दत अथवा सफ़ाई (स्पष्टता) से व्यक्त कर देना मेरे लिए अधिक महत्वपूर्ण रहा है। 'मैं नाटक कैसे लिखता हूँ?' इस प्रश्न के उत्तर में मैंने कभी लिखा था—मुझे किसी प्रसिद्ध नाटक का छायानुवाद करने अथवा उसकी शैली का अनुकरण करने की इच्छा कभी नहीं हुई। उन बड़े नाटककारों की नकल करना अथवा उनके कोषों से विचारों के मोती चुराना, मैं उनकी और अपनी प्रतिभा का अपमान समझता हूँ, और जैसा कि स्ट्रिंड बर्ग ने एक जगह लिखा है—'मैतरलिंक ने मुझ पर जो प्रभाव डाला, उससे प्रेरणा ग्रहण कर और उस महान कलाकार से दृष्टि की गहराई उधार लेकर मैं अपनी ही अनुभूतियों की ओर झुका'—मैं भी उन महान कलाकारों से प्रभावित होकर अपनी ही अनुभूतियों से अपने नाटकों की सामग्री प्राप्त करता हूँ।'

और यही बात मैं अपनी कविता के सम्बन्ध में भी कहना चाहता हूँ।

मैं शुरू से उर्दू-कविता के सम्पर्क में रहा हूँ और उर्दू में ख़ालिद और राशिद उन दिनों सशक्त 'नयी कविता' करने लगे थे, जब कि हिन्दी में 'नयी कविता' का युग लाने वाले 'भग्नदूत' और 'चिन्ता' की कविताएँ करते थे। भाव-संहिति और शब्द-समुच्चय का जितना सुन्दर रूप राशिद के यहाँ मिलता है, उतना शायद ही किसी हिन्दी-कवि के यहाँ मिले। हिन्दी में उन कवियों के यहाँ भी, जो 'भाषा और शब्दों पर भावों और विचारों की अपेक्षा अधिक बल देते हैं,' ऐसे प्रयोग मिलेंगे जो उर्दू-कवि के निकट फूहड़ होंगे। 'नयी कविता' के चौथे अंक के अंतिम पृष्ठ पर ऐसे ही एक 'शब्द और शिल्प के धनी' कवि की एक कविता है—'प्रयोजन,' उसमें तीसरी, चौथी, पाँचवीं पंक्तियाँ हैं:

दोनों जब तक सम्मुख आते ही रहते हैं
प्रश्न यही रहता है
दोनों जो अपने बीच एक दीवार बनाये रहते हैं

रहते हैं, रहता है, रहते हैं––उर्दू-काव्य का रस पाने वाले श्रवणों को यह ध्वनि अत्यन्त कर्णकटु लगती है। और ऐसे प्रयोगों की भरमार प्रयोगशील कविता में खूब है। हिन्दी के नये कवि ने छन्द का बन्धन तोड़ा, लय का मोह अपनाया, किन्तु खड़ी बोली की पंक्तियों में लचक लाने का प्रयास नहीं किया, और बिना उसके हिन्दी-काव्य के सम्प्रेषण की समस्या ठीक से नहीं सुलझ सकती।

उर्दू-काव्य के प्रभाव के कारण और स्वयं कुछ वर्ष तक नज़में और ग़ज़लें लिखते रहने के कारण, मेरी भाषा में शायद कहीं-कहीं वैसी ही फूहड़ता हिन्दी-पाठक अथवा आलोचक को लगे, जैसी कि उर्दू-कवि को हिन्दी-कविता में लगती है। अभी 'टेरता पाखी' की एक पंक्ति:

वासनाओं से रँग रहे हैं गिरिमालाओं के वक्षों पर

की ओर संकेत कर एक मित्र ने कहा, 'वासनाओं में एक मात्रा बढ़ती है।' उर्दू-काव्य में छन्द के ताल, सम और झंकार के अनुसार आ, ई, ऊ, ए, ओ, औ, स्वर ह्रस्व अथवा दीर्घ हो जाते हैं तथा शब्द 'यह' और 'वह' में 'ह' का उच्चारण नहीं किया जाता है और ये शब्द यों बोले जाते हैं––'ये' और 'वो' इनमें भी मात्राओं का उच्चारण कभी ह्रस्व होता है और कभी दीर्घ। अजाने ही कई बार मैं ऐसा लिख गया हूँ। विशेषकर 'टप्पों' में, जो पढ़ने के लिए नहीं, गाये जाने के लिए लिखे जाते हैं। मैं इसे दोष नहीं मानता और मैं समझता हूँ, खड़ीबोली के काव्य की पंक्तियों में लचक लाने के लिए उर्दू-काव्य के इन तथा ऐसे ही दूसरे नियमों को अपना लेना बुरा नहीं। इससे हिन्दी-कविता की सम्प्रेष्णीयता घटेगी नहीं, कहीं अधिक बढ़ेगी और उसे भोंड़े प्रयोगों से मुक्ति मिलेगी। मुझे एक-दो ऐसे शब्द भी अच्छे लगते हैं, जो प्रायः अब प्रयोग में नहीं आते, जैसे 'सरीखा,' 'टुक,' 'दूजा' आदि। मैंने अपनी कविता में निरन्तर इनका प्रयोग किया है और इस संग्रह की कविताओं में भी मैं उनका मोह नहीं छोड़ सका।

नयी कविता : पुराना कवि

इतने लम्बे लेख से यह अर्थ न लिया जाय कि प्रस्तुत संग्रह में जो कविताएँ संकलित हैं, वे मेरे समकालीन कवियों से श्रेष्ठ हैं, और महानता की हदों को छूती हैं। इन पंक्तियों के लेखक को दूसरों की सीमाओं के साथ-साथ अपनी सीमाओं का भी पूरा ज्ञान है, वह दूसरों ही का नहीं, अपना भी कटु आलोचक है। हाँ इन कविताओं ने मुझे इन पंक्तियों के माध्यम से कुछ बातें कहने का अवसर ज़रूर दिया है, जो इधर कुछ वर्षों से मन में कुलबुला रही थीं। लेख के बाद जो पाठक कविताएँ न पढ़ना चाहें, उन्हें पूरी आज़ादी है। ये कविताएँ मेरे व्यस्त जीवन के कुछ ऐसे क्षणों की साक्षी हैं, जिनमें मैंने कहानी अथवा नाटक की बात नहीं सोची और इनके लिए मैं अपने उन पाठकों का आभारी हूँ, जो सदा मुझसे कविता की माँग करते रहे हैं। उन पाठकों की संख्या कहानियों अथवा नाटकों के मेरे पाठकों की अपेक्षा बहुत कम है, पर मेरे-जैसे लेखक के लिए, जिसने कवि के रूप में साहित्य-क्षेत्र में पाँव रखा और जो दूसरी विधाओं को सींचने के प्रयास में इस क्यारी को सूखने देता रहा, यह संख्या बहुत ज़्यादा है।

श्री गिरिजाकुमार माथुर और श्री बालकृष्ण राव का मैं विशेष आभारी हूँ कि उन्होंने इन कविताओं को पढ़कर मुझे कई अच्छे सुझाव दिये। साथी सुरेन्द्रपाल का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने आरम्भ से अन्त तक कविताओं को सुनकर और सुझाव देकर मेरी सहायता की।

शरद् पूर्णिमा
● ३,११,६०

—उपेन्द्रनाथ अश्क

सड़कों पे ढले साये

नदी का ज्वार मिट गया है,
धारा क्षीण से क्षीणतर हो गयी है
और कछारों तक फैली रेत पर
अप्रैल की चाँदनी बिखरी है।

चाहता है मन—
जब यह क्षीण-सी धार भी
बढ़ी आती रेत में समा जाय,
चाँदनी ऐसे ही मुस्कराय!

ज़िन्दगी के जंगलों में

ज़िन्दगी के जंगलों में ढूँढ़ता हूँ राह !

ऊँचे, गगन-चुम्बी अहं में रत : पेड़ ;
अपनी क्षुद्रता में मग्न, काँटों को बिछाते : झाड़ ;
लतरें : लिजलिजी-सी——
देख रुख़ बढ़तीं हवा का
कभी मुड़तीं, कभी झुकतीं,
लोट यों जातीं——
कि झंझाएँ गुज़र जायें
न उनको रौंद पायें,
किन्तु पा अवसर
पुनः वे सर उठायें
और छा जायें——तनों पर, डालियों पर,
फूल-पत्तों पर, तनावर
पेड़ खा जायें !

सील : जम जायें प्रगति के स्वप्न,
—ढेर हो जायें यहीं !
दुर्गन्ध : भुलसे सुनहली कल्पना
सौन्दर्य की, शिव की !
अँधेरी वीथियाँ :
मिलती नहीं जिनके तिमिर की थाह !
ढूँढ़ता हूँ राह !

आग : चुप-चुप सुलगती जाने न किस-किस ठौर !
ज्वालाएँ नहीं दिखतीं, मगर तन-मन
बराबर सालता है दाह !
कौन युग बीते, न जाने कौन सदियाँ, कौन संवत्सर
निरन्तर ढूँढ़ता हूँ राह !

किरण आलोक की आती कभी
बढ़ते कदम
लगता—
अँधेरा दूर होगा;
धूप फैलेगी—
सील सूखेगी—
कटेंगी ये अमर बेलें;
छटेंगे झाड़ काँटेदार;
रस्ते साफ़ होंगे;
पथ सुगम करता उजेला फैल जायेगा ;

बुझेगी आग
जंगल लहलहायेंगे--
फूलों से, फलों से !
बढ़े आते अँधेरों में मगर वह किरण
हो जाती कहीं ओझल,
निकल जाती अजाने ही लबों से आह—
कौन युग बीते, न जाने कौन सदियाँ, कौन संवत्सर
निरन्तर ढूँढ़ता हूँ राह !

● दिसम्बर १०, १९५८

बरसात की शाम

छँट गये बादल क्षितिज में
जग उठी बरसात की यह शाम
दिन की नींद से।

राग में डूबी
रँगीली,
बड़ी-सी तितली-सरीखी,
चली जाती
खोल पाँखें
उस दिशा की ओर—
छिप रहा दिन का दिया है जिस दिशा के छोर!

भीगी सड़क की
पिघली रजत में
मिल गया सोना--
झलक चमके
रंग सारे
मुग्ध तितली के परों के !

जल उठी है
पथ-किनारे
लौह-खम्भे से लगी-सी
एक बत्ती !
संकुचित-सी,
साँझ की रंगीन आभा से नहीं आँखें मिलाती।
रोशनी नीली पड़ी-सी
औ' घने बादल-भरे आकाश के नीचे
दबी-सी !

सोचता हूँ--
गर नहीं रंगीन तितली
पर न क्या कोई अकेला शलभ भी
यह मोह सकती ?

लौट आया हूँ
गया था सैर को मैं

देखता हूँ—
जल रही बत्ती हुमक कर
साँझ को देती चुनौती।
मिट चुका संकोच, आभा लौट आयी,
भीड़ शलभों की लगी,
है सड़क की पिघली रजत में
मिल चुका लोहा;
क्षितिज में छिप चुका दिन का दिया
औ' अधजली संध्या—
नुचे हैं पंख जिसके,
पंथ में आकाश के
उन्मन, अकेली
रेंगती है।

● दिसम्बर १०, १९५६

टेरता पाखी

टेर रहा है
घाटी में आतुर बन-पाखी।
लगातार वह टेर रहा है—
एकाकी, आकुल बन-पाखी !

गूँज उठे हैं केलू के वन,
गूँज उठी घाटी-दर-घाटी
मगर नहीं उसके उत्तर में
है आवाज़ किसी दूजे पाखी की आती।

सूनापन अपना समेट नभ मौन रुका है।
दोपहरी जैसे होकर गति-हीन थमी है।
नये बादलों के दल केवल
बे-आवाज़
द्रोणियों के पीछे से उठकर
वासनाओं से—
रेंग रहे हैं गिरिमालाओं के वक्षों पर।
थमी हवा की सर-सर।
चपला धूप एक दुर्वार डाह से भरकर
जैसे उन पर,
चंचल हो, सायास झुकी है।

औ' बेबस अन्तर की ज्वाला से बन-पाखी
क्रन्दन-ऐसे तीखे स्वर में
टेर रहा है—
टेर रहा है—
मगर नहीं उसके उत्तर में
है आवाज़ किसी दूजे पाखी की आती।

जी होता है—
अनायास मैं भी चिल्ला दूँ!
अपना यह एकाकी सीना चीर,
कंठ के पूरे स्वर से
घाटी का यह मौन गुँजा दूँ!

औ' मेरी वह टेर
घाटियाँ, वन, पहाड़, नदियाँ-नाले—सब लाँघ
गाँव-कस्बों पर छाये।
शोर भेदती हुई नगर का
तुम तक जाये!

पर तुम शायद सुनो नहीं
मैं रहूँ बुलाता,
जैसे लगातार चिल्लाता
यह बन-पाखी
है घाटी का मौन गुँजाता।

• जूलाई ७, १९५७

तसल्ली

जानता हूँ—तुम न आओगी,
मगर फिर भी निरन्तर देखता हूँ राह !
कैसी बेबसी है !
जानता है मन
वचन के सत्य को, पर
चाहता है यह—
भरम कायम रहे।
दायम रहे
यह झिलमिलाती शाम;
चलने को रुकी गाड़ी;
झुका सिगनल;
घिरे पशुओं-सरीखी भीड़;
फैले बत्तियों के दाम !

भीड़ का सागर लहर लेता,
उमड़ता, मन्द हो जाता
कि पुल की ओर से लहरें नयी
तूफ़ान की गति से चली आतीं
नयी हलचल मचा देतीं।

मगर मैं इस किनारे
(है सुरक्षित सीट, हैंडल हाथ में,
फ़ुट-बोर्ड पर हैं पाँव---)
देर से बंसी लगाये लोचनों की
देखता हूँ---
अभी झटका-सा लगेगा,
झलक पुल पर कौंध उट्ठेगी तुम्हारी,
दीठि की डोरी तनेगी,
औ' तुम्हारी स्मिति,
तुम्हारे गाल का डिम्पल,
तुम्हारे अधर-कोनों पर लरज़ते बोल---
बन रहे अनगिन बहाने पुतलियों में
आ मुखर होंगे अचानक पास मेरे।
(घंटियों-से, तार दिल के छेड़ते,
मीठे ठहाके
गूँज उट्ठेंगे।)
---नहीं टैक्सी मिली....
---घड़ी सहसा रुक गयी औ' समय का...
---ऐन चलते वक्त आ पहुँचे हमारे....

श्रवण मेरे बन्द हैं,
मैं सुन रहा कुछ भी नहीं
बस देखता हूँ—
अधर-कोनों को सिमटते-फैलते औ'
लाल होंठों को
अजब सौंदर्य दे देते;
किलकती साँस फूली;
वक्ष-सागर को उमड़ते औ' उतरते;
देह की वह बेलि हँसने में कभी झुकती,
कभी तनती,
कभी फिर लोट-सी जाती।

अजब आकांक्षाएँ—
रात के गहरे अँधेरे में छिपी अतृप्त रूहों-सी,
निकल मन से,
अजाने पंख अपने खोल—
मस्तक के उजाले को,
नज़र की रोशनी को,
वारुणी के घन अँधेरे-सी
अचानक घेर लेतीं।

कि बज उठती तभी तीखी अचानक रेल की सीटी,
हरी झंडी किसी निकटस्थ नौका-पाल-सी हिलती,
नहीं झटका लगा, पर तन गयी है दीठि की डोरी।
सिमट आये अनेकों युग सिमटते एक इस क्षण में—

न जाने कौन, कब, मेरी तरह
लटका सरकती रेलगाड़ी से,
बँधा झूठे वचन से,
देखता होगा उसे,
जिसको न आना था।

न जाने कौन, कब, मेरी तरह
लटका सरकती रेलगाड़ी से,
निरन्तर बाट देखेगा
किसी की, जो
न आयेगी—न आयेगी।

मगर खुद ही बहाने सोचता उसके
निगाहें भीड़ में गाड़े
तसल्ली दे रहा मन को,
सरकता चला जायेगा।

● जून १२, १९५६

ज़हर कि जो अमृत है

ओ मेरे निकट बैठे,
छोटे-से क़द पर
आगत ज़िन्दगी का भारी बोझ उठाये
युवा कवि !
अपने व्यंग्य-वाणों को कुण्ठा के ज़हर में डुबाकर
मुझ पर मत चलाओ।
इन लम्बे बरसों ने मुझे जो कवच दिया है,
उस पर तुम्हारे ये वाण कोई असर नहीं करते।
अपनी कुण्ठा के ज़हर को कुछ दिन—
मन की गुहा में छिपाओ !
अनुभूतियाँ अर्जित कर, मानस के सर में बुझाओ—
बुझाते जाओ !
कालांतर में—
वहाँ
जो फूल खिलेंगे,
तुम्हारी वाणी से झर, संसार को जीवन की महक,
जीवन का दान देंगे।
इस ज़हर को, जो कि अमृत है
यों मत गँवाओ !
ये विष-बुझे वाण मुझपर मत चलाओ !

● मई ३०, १९५९

पीला चाँद

उठो प्रिय चलें
पीले चाँद को देखें !

कुछ ही देर में
टिब्बे के मोड़ पर,
हवाघर के पिछवाड़े
सिनेमा के ऊपर,
पठानकोट की घाटी से
दो बड़े-बड़े देवदारों के बीच,
पीला चाँद झाँकेगा।

पीला-पीला, सुनहला, स्वप्निल, चाँद झाँकेगा।

उधर नीचे—बालून के तारे टिमटिमायेंगे,
और बाथरी, एक बड़ी-सी अँधेरी झील-सरीखी
दिखायी देगी।
उठो प्रिय चलें
चाँद को देखें !

"चुप-चाप बैठो,
ग्यारह बज चुके हैं
सड़क की बत्तियाँ बुझ चुकी होंगी।"

लेकिन हल्का-हल्का उजेला होगा,
टिब्बे के पीछे छिपा रहकर भी चाँद हमें रास्ता दिखायेगा।
देवदार और तोस, सफ़ेदे और बाँझ, अख़रोट औ' ख़ूबानी—
घने पेड़ों के अँधेरे को भेद, उसकी रोशनी
भिनसारे-सी हमारा पथ उजेला करेगी।
फिर सहसा
सिनेमा के मोड़ पर,
हवाघर के पिछवाड़े,
दो देवदारों के बीच,
लखनवी ख़रबूज़े की फाँक-सा,
किसी धनी पहाड़ी तरुणी की सुनहली हँसली-सा,
वह लटका दिखायी देगा—
पीला-पीला सुनहला चाँद!

उठो प्रिय चलें
चाँद को देखें!

"हम नहीं जाते
हम रमी खेल रहे हैं
बहुत दिन बाद जीत रहे हैं!"

पीले चाँद तू अकेला है !
लोग रमी खेल रहे हैं,
कॉमिक पढ़ रहे हैं,
सिनेमाघर में 'अरब की हूर' देख रहे हैं,
दिन-भर घूम-थक कर
नुक्कड़ की दुकान से
पानी के बताशे और चाट खाकर सोये हैं,
उनके सीने भारी हैं,
करवटें बदल रहे हैं।
सड़क सूनी है,
हवाघर ख़ाली है,
तू अकेला अपनी यह आभा लुटा रहा है।

पीले चाँद
मैं भी अकेला हूँ।
मेरा मन बाथरी की इस अँधेरी घाटी-सा सूना है,
हवाघर-सा ख़ाली है।
अपनी यह सुनहली ज्योत्स्ना इसमें भर दे !
इसे दुकेला कर दे ! !

● अगस्त ५, १९५७

सँगतरी चाँद

उग आया पश्चिम में
ओ प्रिय
चाँद सँगतरी !

नींबू-सा पीला-पीला था कुछ दिन पहले,
पर शायद अब
अनुरागी रवि
कहीं निकट ही
देख रहा है,
शर्माया है,
नींबू-सा पीला-पीला बन आया
चाँद सँगतरी !

मैं भी तो हूँ चाँद तुम्हारी,
तुम मेरे रवि ।
फेर दीठि लो
ओ प्रिय, मैं नींबू-सी पीली
और नेह से देखो तो मैं—
चाँद सँगतरी !

● अगस्त ९, १९५७

दलदली दिन

झुकी अख़बार पर क्या सोचती हो—
इधर आओ !

किवाड़ों को न खोलो, बन्द रहने दो,
जगाओ मत उनींदे लैम्प—
खिड़कियों पर छोड़ दो पर्दे—
जरा-सा यह उजेला भी बदल जाये अँधेरे से !

(अँधेरा आदमी के राज़ का साथी,
कभी आती लबों पर जो न, उस आवाज़ का साथी,
अँधेरे में अकेलापन नहीं खलता ।)

झड़ी ने यह दुपहरी साँझ-सी उन्मन बना डाली।
निरन्तर टपटपाती बूंदियाँ, सन-सन हवा, गिरते हुए पत्ते
कई दिन से,
गिरी है बर्फ़ धौलाधार पर शायद,
हवा निकली हुई है आज अपनी मार पर शायद,
जमे-से जा रहे हैं अंग तन के, तार मन के, और मस्तक
बन रहा दलदल
कि जिसमें चेतना धँसती चली जाती
किसी बेबस,
ग्रसित. पर निकल पाने में निपट असफल
गले तक डूबते पशु-सी !

झुकी अखबार पर क्या सोचती हो,
बाढ़ आयी ?
तोड़कर तट बह उठी रावी ?
बिफर कर ब्यास, ढाता बाँध, हर-हर, खेतियाँ, खलिहान
खा बैठा ?
कि सतलज ने प्रलय की ठान ली, उखड़े हुए जन
ढूँढ़ते हैं शरण की राहें ?

छपे फ़ोटो--मनिस्टर जा रहे हैं देखने उजड़े हुए घरवे ?

बड़ी बातें, बड़ी बातें, बड़े आदर्श की घातें
प्रकाशित है किसी नेता का अभिभाषण ?

कि अणु की शक्ति प्रकटी रूप में संहार के नूतन ?
कि कौरव और पाण्डव टेक पर अपनी तने बैठे
नहीं तैयार अपना छोड़ने आसन ?

कि साये मौत के मँडरा रहे संसार के सर पर ?
ज़रा-सी सोच ही से दौड़ जाती प्राण में सिहरन।

झुकी अख़बार पर क्या सोचती हो ?
बदलियाँ-सी छा गयीं मुख पर
झलक आया खिले आकाश में उमड़ा हुआ सावन !

मगर ऐ प्राण, जब से आदमी ने चेतना पायी,
लड़ाई मौत में औ' ज़िन्दगी में है ठनी आयी।
भले ही मौत के बादल घिरें पल-पल गहन होकर,
सदा ही फूल जीवन के खिले हैं मौत के तन पर।

झुकी अख़बार पर क्या सोचती हो ?—
उठो ऐ जान मेरी !
मौत-सा यह दलदली दिन ही भला कम है,
कि हम इसकी घुटन को दर्द से जग के गहन कर लें,
उदासी के घने क्षण में उदासी और भी भर लें !

डरे-सहमे परेवों-से सिकुड़कर बैठ जायें हम
करें चूँ भी न अपने पंख तक भी फड़फड़ायें हम !

झुकी अखबार पर क्या सोचती हो ?
अब उठो आओ !
अँगीठी को हिला दो,
डाल दो अंगार,
कम्बल ओढ़ लें तन पर !
गले तक डूब जायें !
मौत-से इस दलदली दिन में
ज़रा कुछ पंख फैलायें !
ज़रा कुछ ज़िन्दगी पायें ! !

● सितम्बर ९, १९५७

खिला दिन

बहुत दिनों के बाद खिला दिन
जमी बर्फ़ शिखरों पर गिरिवर धवलधार के।
मेरे मन का जमा हुआ हिम लेकिन पिघला,
जी होता है गाऊँ जी-भर गीत प्यार के!

गीत प्यार के चरवाहों के;
गीत प्यार के मज़दूरों, कृषकों, कुलियों के;
गीत प्यार के दूर-दूर से कोयला भर-भर,
किल्टे लिये पीठ पर
मीलों चलकर आने वाली
बालाओं, तरुणियों और वर-वृद्धाओं के;
गीत प्यार के जन-जीवन के;
गीत प्यार के प्रकृति-पुरुष के,
जो निवास करते हैं मेरे मन के अन्दर
औ' प्रतिबिम्ब देखता हूँ मैं जिनका बाहर।
गीत प्यार के तेरे, ओ मेरी चिर-संगिनि,
जिसका प्रेम सिखाता मुझको
प्यार जगत का मन उघार के

बहुत दिनों के बाद खिला दिन—
जमी बर्फ़ शिखरों पर गिरिवर धवलधार के।
मेरे मन का जमा हुआ हिम लेकिन पिघला,
जी होता है गाऊँ जी-भर गीत प्यार के।

शिखरों पर घूमूँ आवारा!
खड्डों में उतरूँ!
नद, नदियाँ, नाले लाँघूँ!
ठीकरियाँ फेंकूँ सर के निथरे पानी पर!
पनचक्की का गीत सुनूँ, छिदरी छाया में पेड़ों की
टुक बैठ, सीटियाँ भरूँ हवा-सी!
मुक्त हुए मन को छोड़ूँ उन्मुक्त धरा पर!
फूलों-सा रस लूँ, रस दूँ,
बन मिट्टी, जीवन नया जगा दूँ!
जी होता है—बन जाऊँ मैं खिला हुआ दिन,
खिले हुए दिन-सा मैं जग का कलुष मिटा दूँ।

● सितम्बर १०, १९५७

छिपकली-सी मुहब्बत

छिपकली-सी यह मुहब्बत
आज के युग की लजीली
भीरु !
अपने नाम ही के सहम से जो सिमट जाये—
तिमिर के आच्छन्न कोनों
और अँतरों से सरककर
झाँकती है।

बढ़ गयी दो पग
जमी-सी फिर वहाँ, जैसे
न अब आगे बढ़ेगी।

आँकती है—
एक भरकर जस्त
निज आखेट पाये !

किन्तु फिर जब सरककर दो पग बढ़ाये,
शलभ उड़ कर और ही कोना बसाये !

है कहाँ वह प्रीति,
गहकर बाँह प्रिय की
ले चले बरबस जो अपने साथ ?

हाथ में अपने लिये सर
है कहाँ वह प्रेम उन्मद
चल पड़े जो
जीत लाने
प्रियतमा का हाथ ?

है कहाँ वह प्रीति—
चुन ले भर सभा में
स्वयं मन का वर
बढ़ा कर—
डाल दे उसके गले में हार ?
छोड़कर संकोच,
गणना
दुःख-सुख की
और गत-आगत का लेखा
घोषणा कर दे कि मुझको
प्रिय, तुम्हीं से प्यार !

ह कहा व—ानडर चल द
प्रेम के पथ पर अकम्पित
जो न क्षण-भर को सशंकित
कह रहा क्या ईर्ष्या से जल रहा संसार ?

प्रेम सपना हो गया है।
कामना आखेट करती आज
सायों के सहारे
छिपकली-सी !

● मार्च १३, १९५२

मछली

मछली गिरी
बाँध के प्रपात में
मुड़कर उछली, चढ़ गयी बाँध पर
उल्टी तिरती चली गयी—
नहीं मुड़ी फिर।

क्या मैं भी मछली हूँ ?

'गिरकर उठता हूँ, उछलता हूँ
प्रपात पर चढ़, उल्टा तिरता हूँ !'

यह धारा जब-जब गिरायेगी
मैं उछलूंगा !
उठूँगा ! !

● जून २२, १९६०

मिडियाकरों का गीत

आओ काई बनें !

कीचड़ से दामन बचाकर,
आदर्श के सूर्य से सीधी आँखें मिलाकर,
अपने सौंदर्य की स्वच्छता से
देखने वालों को जो चौंधिया दे,
कमल की वह प्रतिभा हम में नहीं।

जल में डूबकर,
अतल तल में पैठकर,
रेत के एक नन्हें-से कण को
अपने अन्तर की गरिमा से
जो मोती बना दे,
सीपी की वह साधना हम में नहीं।

आओ काई बनें !
जम जायँ
सर की सीढ़ियों पर,
नदी के किनारों पर,
सागर की चट्टानों पर,
आदर्शों के पाँव हम पर पड़ें
फिसल जायँ !

आओ काई बनें !
जल पर फैलें,
उसे निर्मल न रहने दें,
यों अपनी सत्ता को सिद्ध करें !

● अप्रैल १२, १९५७

कवि !

कवि !
जब तुम मुझसे प्रसन्न थे
तुमने मेरी प्रशंसा के गीत गाये।

तुमने मुझे देखा,
मेरे निकट आये,
अपने सन्तुष्ट अहम् के ऊँचे सिंहासन पर बैठ,
कल्पना के रंगीन हाथों से मुझे छू,
तुमने मेरे चित्र बनाये
और—
मुझमें वे गुण दिखाये
जो मुझमें नहीं थे।

किन्तु,
अब जब तुम मुझसे अप्रसन्न हो--
तुम्हारा पीड़ित, खंडित, हीन-भाव युक्त
असफल, असन्तुष्ट अहम्
घायल साँप-सा फूत्कार कर उठा है--
अपनी मटमैली कल्पना से
तुम मेरे चित्र बनाते हो
और--
मुझमें वे दुर्गुण दिखाते हो
जो मुझमें नहीं हैं।

● अप्रैल १५, १९५७

एक सम्वाद

'नोच डालूँ क्यों न सारी वाटिकाएँ दूसरों की
जब न अँगनाई में मेरी एक भी बिरवा खिला।'

'बीज कुछ होंगे पुराने।'

'यत्न तो मेरा यही था—
बीज मैं लाऊँ नये, फिर खोजना चाहे न कितना भी पड़े।'

'गोड़ने या रोपने अथवा निराने में
कमी रह गयी होगी।'

'श्रम अगर तुम देखते मेरा
तो निश्चय ही उसे तुम मान जाते, रात या दिन—
मैंने कुछ देखा नहीं।'

'पर न लग पाये थे पौदे
फूल के, तो फल लगाते, कान्त-कोमल
लचकती,
फूलों-भरी,
छायामयी बेलें चढ़ाते।'

'कुछ न खिल पाया
खिला तो खिला बस मंदार—फूल-फल लाया
न जिनको आदमी सूँघे न चक्खे,
उगे तो उगे बस कुछ झाड़—
काँटेदार,
छा पायी लता कोई न
केवल ज़र्द पीली, नहसमारी अमरबेली के सिवा, जिसने
सुखा डाले कि जो दो-चार (काँटेदार माना)
पेड़ आँगन में उगे थे।

ईर्ष्या से जल, उठा फरसा
कुपित मैं चल पड़ा—
कुठाराघात से मेरे
कई नव वृक्ष-बिरवे (दूसरों की वाटिकाओं में) कटे,
छटा बिगड़ी बड़े छतनार पेड़ों की,
नयों की बात क्या,
साहस गया मुरझा कुशलतम मालियों का
और मन में दूसरों के ईर्ष्या
मेरे कुठाराघात का कौशल
जगा आया।

हुआ सन्तुष्ट मेरा अहम्
मेरे घाव सारे भर गये
मैं ख़ूब ख़ुश हूँ, रोज़ फरसा तेज़ करता हूँ।'

'नहीं था दोष बीजों का, न
श्रम औ' साधना का ही,
न थी मिट्टी तुम्हारी उर्वरा।'

'शायद !
मगर इसका नहीं अब खेद मुझको।'

'मगर हे मित्र !
जिनके पास मिट्टी उर्वरा है
नहीं जिनके यहाँ श्रम-साधना की
या कि इच्छाशक्ति या आकांक्षा की
कमी—
तुम यह जानते शायद नहीं—
उनके यहाँ पौदे
तुम्हारे काटने पर
और बढ़ते हैं !'

● फरवरी १७, १९५९

सपने में

रात सपने में कहीं देखा—
खिला गुलमौर
फैली डालियाँ छतनार
गुंचे लाल फूलों के
खिलँदरे बालकों-से
भेद कर उस हरे छाते को, उचककर
देखते हर बार—
फैली कीकरी को,
नकल में गुलमौर की जो,
छा रही चारों तरफ़
अनगिनत ताने छतरियाँ—नयन सीमा तक !
ग्राँझ पर—लाये कहाँ से लाल गुंचे, फूल-बालक ?

है किनारे वहीं तापस-सा खड़ा चुपचाप
पीली लटकती दाढ़ी हिलाता,
दर्द से ज्यों मुसकराता—
उदास !
अमलतास ! !

• मई ३०, १९५९

नार्सिसस् का उपदेश अपने बेटे को

वत्स मेरे !
मैं जवानी माँगता तुमसे नहीं
गो देखता हूँ—
बाल मेरे पक गये, तन ढल रहा है
और अंगों में तुम्हारे
तपे सोने में तपा लोहा बराबर मिल रहा है।

पर नहीं उन तन्वियों की चाह मुझको
जो लिये मुख-कमल,
गीली पँखुड़ियों-से होंठ,
आँखें शबनमी, मुस्कान
स्वागतमय उषा-सी,
आ मिलेंगी एक दिन पथ में तुम्हारे !

मैं जवानी माँगता तुमसे नहीं
ओ वत्स मेरे !
मैं नहीं पुरु का पिता, मैं नहुष का बेटा नहीं हूँ।

साँझ की यह धूप फुनगी पर विटप की
जानता हूँ—
है नहीं अब देर की मेहमान, लेकिन
मानता हूँ—
यदि कृपा हो सूर्य की फिर
धूप फैले,
फैलकर छा जाय;
लोहू तप्त यौवन का नसों में गर्म फिर लहराय;
नभ-परियाँ
उतर आयें क्षितिज से
सुखद मेरी छाँह में आराम करने को,
विचरने को,
विहरने को,
सुनहले पंख निज फैलाय !
मैं अविचल रहूँगा।
मैं न उन्मुख हो सकूँगा।।

साँझ की यह धूप पीली,
है रुकी जो पेड़ पर कुछ पल,
अपरिचित (यदपि परिचित) खग-सरीखी,

मैं न रोकूँगा इसे,
मैं चीर खींचूँगा नहीं इस ज़र्द-पीली धूप का—
मैं हूँ नहीं लोलुप
नहीं पुरु का पिता मैं नहुष का बेटा नहीं हूँ।

नार्सिसस् हूँ—
आत्म-विह्वल, आत्म-प्रेमी देवता यूनान का वह,
जो चिबुक रक्खे हथेली पर निरन्तर झाँकता था
बिम्ब अपने रूप का जल में, न किंचित्
ध्यान जिसका खींच पायीं मुग्ध जल-परियाँ।

नार्सिसस् हूँ मैं, नहीं जीवन जिया मैंने !
नहीं उन्मुख हुआ,
जब धूप फैली थी—
लहू जब गर्म यौवन का शिराओं में धड़कता था,
विमुग्धा तरुणियाँ जब
लोचनों में डाल लोचन झाँकती थीं—
मैं सदा देखा किया
निज रूप ही के बिम्ब को
उनकी रँगीली पुतलियों के दर्पणों में।
यदि किसी की आँख ने छवि आँक कर मेरी दिखायी
मैं झुका उसपर—
सदा अपने रूप के प्रतिबिम्ब ही को देखता—
प्यार मैंने कब किया ?
ख़ुद को समर्पित कब किया ?

जो कुछ दिया मैंने दिया निज को।
लिया जो कुछ लिया निज से।
नार्सिसस् हूँ मैं—नहीं जीवन जिया मैंने।

मैं जवानी माँगता तुमसे नहीं
ओ वत्स मेरे !
चाहता हूँ मैं नहीं जीना तुम्हारे योग से,
पर चाहता हूँ—
तुम करो मत अनुकरण मेरा---
बनो मत आत्म-प्रेमी !

ये कभी जो गिर्द मेरे आज भी परियाँ विमुग्धा देखते हो—
बढ़ो, बढ़कर थाम लो तुम हाथ इनके !
झाँककर इनकी पनीली अँखड़ियों में
देख लो—क्या चाहती हैं ?
चाहती है कौन अपने पुरुष में पति, कौन प्रेमी
पिता अथवा पुत्र अथवा सखा तन्वी चाहती है कौन ?
चाहती है कौन कर्मठ, ज़िन्दगी के ताप में
जलता, झुलसता, जूझता संगी—
और अपने रूप का प्रतिबिम्ब केवल
ढूँढ़ती है कौन ?
लोचनों में तरुणियों के मत निहारो बिम्ब को अपने !
करो तुम यत्न ऐसा
देख पायें
रूप अपने प्यार का उन्मुख तुम्हारे लोचनों में !

मैं जवानी माँगता तुमसे नहीं ओ वत्स मेरे,
शेष जो मेरी जवानी, मैं तुम्हीं को सौंपता हूँ।
मैं नहीं पुरु का पिता, मैं नहुष का बेटा नहीं हूँ!

● सितम्बर १५, १९५८

क्षमा करना

शुरू फागुन की सुनहली
ओस-भीगी,
मुस्कराती-सी, निमन्त्रण दे रही-सी
धूप !
चाहता हूँ--
(खींच कर आराम कुर्सी)
लेट जाऊँ,
छोड़ दूँ सब अंग ढीले,
और कोई पत्रिका ले
पृष्ठ पलटूँ,
चित्र देखूँ,
फिर उसी से ढाँप कर मुँह ऊँघ जाऊँ !

डेलिया पिछले दिनों का फूल आया है,
लाल-गहरे, दूधिया, पीले, सुनहले फूल लाया है।
चाहता हूँ—
(रुक ज़रा) मैं
आँख की तृष्णा मिटा लूँ,
लू-भरे तपते दिनों के लिए मन का
एक तो कोना सजा लूँ।

"आह! कैसी लेखनी, क्या शिल्प है,
कैसी कला है!
किस क़दर समवेदना से, दर्द से
कृतिकार ने इसको सृजा है!"
चाहता हूँ—
(भूलकर सब काम)
मैं इसको पढ़ूँ
इसको गुनूँ
तार सपनों के इसे लेकर बुनूँ!

हाय! कैसा चाँद लटका है सिरिस की डालियों में
स्रोत सुख का मौन अटका है सिरिस की डालियों में
चाहता हूँ—
(यहीं थम जाऊँ)
पिऊँ इसकी मधुरिमा!

पर थका मन
ग्रसित बीसों उलझनों में,

ज़िन्दगी ने बींध रक्खे हैं सभी क्षण।
ओ सुनहली धूप,
वगिया के निराले फूल,
ओ कला, ओ मधुरिमा !
क्षमा करना
मैं अभी ख़ाली नहीं हूं।

● अक्तूबर ११, १९६०

भेंट

आज़ पुस्तकें छाँटते हुए देखा—
तुमने एक पुस्तक
बड़े स्नेह से मुझे भेंट की है।

क्या वह स्नेह सच्चा था ?

यदि हाँ,
तो क्या तुम मुझे भूल गयी हो ?

यदि नहीं,
तो क्या तुम्हें कभी मेरी याद आयी है ?

● अप्रैल १२, १९५७

आदमी यह सोचता है

आदमी यह सोचता है—
है वहाँ अधिकार कुछ !
होता नहीं,
दिल टूट जाता है।

आदमी यह सोचता है—
है उन्हें भी प्यार कुछ !
होता नहीं,
दिल टूट जाता है।

● **दिसम्बर ५, १९५९**

कौन जाने

राख है, कुछ भी नहीं, क्यों छेड़ती हो ?
कौन जाने,
दबी-सोयी, चिनग कोई
चमक उट्ठे औ' तुम्हारे
इस सुकोमल गात में ही
कहीं कुछ जल जाय !

● **नवम्बर ११, १९५९**

सड़कों पे ढले साये

सड़कों पे ढले साये
दिन बीत गया, राहें
हम देख न उकताये !

●

सड़कों पे ढले साये
जिनको न कभी आना,
वे याद हमें आये !

●

सड़कों पे ढले साये
जो दुख से चिर-परिचित
कब दुख से घबराये !

● दिसम्बर ३, १९५९

घन बूँदनियाँ बरसें

घन बूँदनियाँ बरसें
कुछ बुदबुद फूट बहें
कुछ उमग-उमग हरसें !

●

घन बूँदनियाँ बरसें
दृग आज दरस को प्रिय—
कुछ और अधिक तरसें !

●

घन बूँदनियाँ बरसें
सिमटो न, निगाहें ये
बाहें न, तुम्हें परसें।

● जून २२, १९६०

पानी की रवानी है

पानी की रवानी है
ये बादल उमड़े हैं
या मस्त जवानी है ?

●

पानी की रवानी है
बरखा के होंठों पर
इक सरस कहानी है।

●

पानी की रवानी है
ओ चल, दो पल भीगें,
यह दुनिया फ़ानी है।

● जून १३, १९६०

दूर के ओ मीत

दूर के ओ मीत,
तेरी याद आये
डसे गहरे शीत!

दूर के ओ मीत,
ऐसे भूलना क्या
प्यार की है रीत?

दूर के ओ मीत,
बीता ज्वार, सूना
तट गया है रीत।

दूर के ओ मीत,
साये साँझ के अब
दिन गया है बीत!

दूर के ओ मीत,
मेरे कंठ की है
फाँस, मेरा गीत!

● जून २३, १९६०

आग अचीन्ही

यह असाढ़ की तपती लू-सी आग अचीन्ही
झुलस रही है—मन के तार-तार को,
तन की शिरा-शिरा को।

सुन्दर गोरा मुख, कजलाये नयन, रसीले होंठ—
पूनो का वह चाँद बन गया कैसे सूरज ?
ठंडी मन्द बयार लगी करने कब हू-हू ?
लावा जैसे गिरि के अन्तर में घहराये—
नस-नस में दौड़ी फिरती लू !

आह ! कहीं उस तपते सूरज पर करुणा का बादल छाये,
घाम शाम की घन-सोंधी छाया बन जाये,
और राग की पछुआ का शीतल झोंका
सब मन की तपन मिटाये !

● जून २५, १९६०

सितारे कूद जायेंगे

जुड़े बैठे हाथियों की पंक्ति-सी
आकाश-धरती के अँधेरों बीच
(व्योम का उजला, अवनि का गहन किंचित्)
और भी गहरे तिमिर की रेख—धौलाधार !

इधर के टीले-पहाड़
रात के गहरे अँधेरे पानियों में डूब, गुम हैं।

झील-सी यह लग रही है बाथरी*
गहरे धुएँ की,
या घने नीलाभ जल की,
साँझ, काले बादलों ने छीन ली हो आभ जिसकी।

---

*बाथरी—डलहौज़ी का एक नाला, जिसके नाम से घाटी प्रसिद्ध है।

बत्तियाँ बालून* की हैं, बिम्ब ज्यों
नभ के सितारों का,
इशारों का।

शुक्र गज की पीठ पर बैठा जमा
ज्योति की किलकारियाँ-सी फेंकता है।
झुक रहे हैं सप्त-ऋषि, 'उतरो, हमें
भी बैठने दो!'
और अनगिन तारकों में होड़—बैठें
हाथियों की पीठ पर!

लग रहा है—
अभी यह गज-पंक्ति उठ्ठेगी
सितारे कूद जायेंगे!

● जून २७, १९६०

---

*डलहौजी छावनी।

बकरोटे की ढलान पर

बकरोटे* की इस ढलान पर
(दुर्दिन में जो किसी अभागे की किसमत-सी
सीधी ढलती चली गयी है।)
फटे हुए पैरों में पहने मोटे चप्पल
औ' पैवन्द लगी शलवार कमर में खोंसे,
क्षण-क्षण घिरती धुंध
बरसती बूँदनियों में
यह लम्बा, यह सड़क नापता, यह भारी शहतीर उठाये,
झुके हुए तन से नव्वे का कोण बनाये,
धीरे-धीरे उतर रहा तू !

---

*डलहौजी की एक प्रसिद्ध पहाड़ी।

नसें उभर आयीं मस्तक पर नीली—
त्वचा घोंटती हो जैसे दम उनका !
फटी-फटी आँखें—
सूनी-सी—
भाव-रहित, बेबस औ' बेहिस !
टूटे बटनों वाले इस गन्दे, मैले चिथड़े से—
जो कमीज़ कहलाती होगी कभी,
झलकता गोरा सीना,
जिसके भूरे बालों में यों मैल जमी है,
उतरे दरिया के सफ़ेद तट की घासों में,
जैसे कीचड़ लिपट गया हो !

इस आज़ाद देश के ओ आज़ाद नागरिक !
मुझे नहीं दुख इसका—
तेरी झुकी पीठ पर
इतना भारी बोझ लदा है,
तीन मील की ऊँचाई तू ढो आया है,
और अभी बालून तलक तू तीन मील नीचे जायेगा।

मुझे नहीं दुख इसका—
तेरे तन पर पूरे वस्त्र नहीं हैं,
नहीं नहाया तू हफ़्तों से।
इस आज़ाद देश के ओ आज़ाद नागरिक !
दुख है लेकिन इस जी-तोड़ परिश्रम से तू
इतना नहीं कमा पायेगा,

जिससे दोनों जून उदर की आग बुझाये,
रूखा-सूखा सही, मगर जो डटकर खाये !
या इस सारे सीज़न की सारी मेहनत से
इतना-भर संचित कर पाये—
पाँगी के उस पार चिनारों और सफ़ेदों की छाया में,
छिपे हुए अनगढ़-से घर में,
बैठे तेरे बीवी-बच्चे, चुप-चुप जिसकी आस लगाये !

सुन्दर पुस्तक पर गिर जाने वाले धब्बे-ऐसे
इस आज़ाद देश के ओ आज़ाद नागरिक !
बीते हुए ग़ुलामों के युग को युग बीते
तेरी दशा ग़ुलामों से लेकिन बदतर है
इसका दुख है।

● दिसम्बर २७, १९५८

विशाखापट्टम के सागर-तट पर

कई दिनों से भटका फिरता
आकर दो क्षण बैठ गया हूँ तेरे तट पर
ओ हहराते सागर !

गरज-घुमड़ कर तेरी लहरें
बार-बार आती हैं,
पैरों को मेरे छू जाती हैं
और बिछा जातीं सिकता पर
एक चँदीली झीनी चादर।
दूर डोलिफ़न* की लम्बी-सी नाक—
घुसी जाती ज्यों साँझ-रँगे सिन्दूरी जल में !
किन्तु रंग का जाल क्षितिज, बिन उसके,
चुप-चुप खींच रहा है।
ज्योति-स्तम्भ है आँख डोलिफ़न की, जो
हठ से रह-रह चमक रही है।

---

*विशाखापट्टम के सागर में दूर तक अन्दर चली जाने वाली पहाड़ी, जो डोलिफ़न मछली-जैसी है और जिस पर लाइट-हाउस बना है।

लगता है—
यह तट मेरा तट है,
मेरा अपना तट है।
कभी नहीं सशरीर भले ही
मैं खेला इसकी सिकता पर,
मेरे सपने सदा खेलते रहे यहीं पर!

जन्मस्थान को तज शैशव में कोई बालक
रहे भटकता जीवन-भर,
पर आखिर
सहसा जा पहुँचे वहाँ—
और उसका हर रोम गुहारे—'तेरा घर,
यह तेरा घर है
ओ, चिर-दिन के भटके बालक!'
मैं भी तो आ ही पहुँचा हूँ यहाँ अचानक!

क्या मैं तेरी ऊर्मियों में मौज मनाता मीन कभी था?
क्या मैं तेरे अतल गह्वरों में सुख पाता सीप, स्पंज था?
था मैं क्या कोई जल-पक्षी
प्यारा था जिसको तट तेरा?
या मैं था कोई ऐसा साहसी लुटेरा—
युगों-युगों पहले जो अपना अनगढ़ पोत बढ़ाये,
तूफ़ानों से लोहा लेता,
दुर्निवार बढ़ता आया तेरे उत्ताल वक्ष पर,
चीख़ उठा तट को छूते ही जो हुलास से—

(ताड़ अचानक काँप उठे थे,
सहमे-सहमे नारियलों ने जोड़ लिये सर
सरवी की फुनगियाँ कँप उठीं)
किन्तु भूलकर लूट-पाट जो स्वयं हो गया तेरा बन्दी ?

पूनो का यह चाँद खिल उठा पूरब की साँझिल बगिया में
आग इसी को देख बुझी शायद पच्छिम के उर की
आँख डोलिफ़न की
(अब भी रह-रह कर चमक रही है—)
इसको तो नहीं बुलाती ?
चाँदी का पथ कैसा झिलमिल,
बिछ आया लहरों पर तेरी,
तट से लेकर दूर क्षितिज तक !

कैसा सूनापन—
सुन्दर, सुख-भरा विशाल सूनापन—
फैला है इस तेरे तट पर !
जल गहरा है,
सिकता-तट संकुल है,
नहीं सैर को जगह,
पड़ी है औंधी एक नाव या केवल
मैं बैठा हूँ पैर पसारे।
मैं बैठा हूँ—
उस प्रदेश का वासी, जहाँ
भीड़ में भी निज को पाता है कभी आदमी निपट अकेला।

लेकिन जहाँ नहीं ऐसा एकांत सुलभ, मन
अपने से दो बात कर सके।
प्रकृति सदय हो अपने सारे राज़ खोल दे, उसके
सारे घाव भर सके।

मैं हूँ उस प्रदेश का वासी—जहाँ
बड़े लम्बे मैदानों में संकुल नगर बसे हैं।
गगन छू रहे भवन,
चमकती सड़कें,
लेकिन उनमें
तंग अँधेरे स्लम्ज़—
ज़हरबाद-से धीरे-धीरे फैल रहे हैं।
गन्दी गलियाँ, सुइयों-सी, इन्जेक्शन विष के
लगातार
शहरों के तन में देती हैं।

लोग बड़े उजले कपड़े पहने,
सजे-बजे कक्षों में रहते,
बाग़ीचों में फूल सजाते,
नाक चढ़ाया करते हैं—
नगरों के इन नासूरों पर
अन्तर में उनसे भी भीषण स्लम्ज़ छिपाये!

जी होता है—मैं बन जाऊँ मीन
ऊर्मियों में तेरी फिर मौज मनाऊँ।

या जम जाऊँ फिर जाकर मैं किसी अतल-
गह्वर में तेरे सीप-स्पंज-सा।
यहीं किनारे छा लूँ कुटिया।
या यह औंधी नाव ठेलकर
झिलमिल करते इसी रजत-पथ पर बढ़ जाऊँ
और जा लगूँ—कहीं किसी उस द्वीप किनारे—
जहाँ सभ्यता ने सीखा है नहीं, हृदय का ज़हर छिपाना
मुसकानों में,
दर्द खोखले अट्टहास में;
क्रोध नीति की मीठी-मोहक, पेचीदा बातों में।

आह! किन्तु मैं मीन नहीं, मनु का बेटा हूँ।
अतुल सृष्टि के क्रम-विकास में
आगे बहुत निकल आया हूँ।
यहाँ सदा रह सकता मैं तो नगर न बसते।
मैं ही सूनेपन से भागा।
अपने सूनेपन को भरने के प्रयास में
मैंने ही ये नगर बसाये—
मैं उनके नासूर भरूँगा।

पशु को मानव होना बड़ा कठिन था लेकिन,
मानव को मानव होना भी सरल नहीं है!

वे ऊँचे प्रासाद और वे सँकरी गलियाँ—
मेरी नियति बँधी है उनसे।

मैं जाऊँगा,
लेकिन तेरे साथ बिताये ये क्षण भुला नहीं पाऊँगा।
जन-संकुल नगरों, रेलगाड़ियों, कारों, ताँगों,
छकड़ों के पुरज़ोर-शोर में,
जन-जन के अनवरत रोर में,
तेरी गरज सदैव सुनायी देगी मुझको;
व्यस्त बही जाती घड़ियों की भाग-दौड़ में,
एक अंश मेरा ऐसे ही पैर पसारे
सदा रहेगा व्यामोहित बैठा इस तट पर!

ओ हहराते सागर!

● **जनवरी १८, १९५९**

काम से थक कर

काम से थक कर,
तनिक आराम को पीछे झुका,
कुर्सी किये टेढ़ी,
टिकाये पैर टेबुल पर,
ज़रा सुस्ता रहा हूँ।
थके जलते नयन मेरे अधमुँदे हैं,
और मीठा दर्द, मस्तक को दबाये जा रहा हूँ।

तभी आतीं तुम, न जाने ढूँढ़ती क्या !
सोचता हूँ—
अभी आओगी निकट मेरे
कहोगी, 'बात क्या है,
थक गये हो क्या ?
कि सर में दर्द है हल्का—?
चलो लेटो ! ज़रा आराम कर लो,
सर दबा दूँ,
बाम मल दूँ, बाल सहला दूँ !'
और लेकर अंक में सर, स्नेह से
जलते नयन मेरे
अचानक चूम लेती हो !

मगर ऐसा हुआ करता था कि जब हम-तुम नये थे;
स्नेह-बन्धन भी नया था;
भावनाएँ भी नयी थीं;
जब समय ने गर्द से अपनी
न था उनको किया मैला;
नहीं अभ्यस्त थे हम एक-दूजे के;
नहीं था मधु विषैला
ज़िन्दगी का; न थे सपने हुए बर्बाद;
होठों पर न आया था कसैला-सा विषैला स्वाद!

देखता हूँ—
देखकर मुझको
अदेखा कर,
निरन्तर ढूँढ़ती-सी कुछ,
त्वरा के पंख पर उड़तीं,
जिधर से आ रही थीं तुम
उधर ही लौट जाती हो।

● सितम्बर ८, १९५८

चट्टान

ज़िन्दगी के धुँधलकों में,
क्रुद्ध सागर के थपेड़ों में, लपकती
आँधियों में,
धूप में,
छाजों-बरसते मेंह में,
दिग्भ्रान्त नभ की स्टेनगनों से तड़तड़ाती गोलियों में,
टूट कर दो-टूक करने को तड़पती,
व्योम के भ्रू-भंग-सी,
विद्युत-शिखा के आक्रमण में,
शक्ति के घन-पुंज-सी
अविचल खड़ी
चट्टान है अवलम्ब मेरा !

याद शैशव की नहीं, पर जानता हूँ--
गोद में जिसकी सतत् खेला
अचेतन रूप-से हैं पा गये तन-मन
न जाने रुक्षता जिसकी
न जाने पा गया मन लौह इच्छा-शक्ति
दृढ़ चट्टान-सी जिससे
जननि मेरी
स्वयं चट्टान ही थी।

थे जनक उस पोत-ऐसे--
जो तुड़ा लंगर निकल जाये उदधि में डोलता-सा।
(हों सभी मदहोश नाविक वारुणी के अंक में जिसके,
न जिनको चेत आगत का, न गत का,
जी रहे हों जो निपट क्षण में।)
भटकता, डोलता, खाता तरंगों के थपेड़े
जा लगे जो क्रोड़ से चट्टान की।
कुछ पल थमे,
फिर डोलता-सा चल पड़े
डगमग,
दिशाओं में बुलाती तन्वियों का पा इशारा।
डूबने को हो तरंगाकुल उदधि में,
पर जिसे हर बार
सागर के थपेड़ों से बचाती
क्रोड़ ही चट्टान की
बन जाय जीने का सहारा।

अब नहीं चट्टान
औ' वह पोत कब का गिन चुका अंतिम थकी साँसें,
अकेला मैं,
उदासी
चुक गये दिन की।
लहर लेता
बढ़ा आता उदधि क्षण-क्षण,
श्रवण को चीरती हुंकार,
दिल को भेदती तूफ़ान की ललकार,
जीवन के धुँधलके,
मेघ का गर्जन,
तड़पती, कौंधती आकाश की तलवार—
साँझ की तिमिरावरण सन-सन !

कभी मैं काँप जाता हूँ।
थकन से हाँप जाता हूँ।

मगर सहसा उसी चट्टान की सिलहूत
जैसे निकल कर मन से
उभर आती,
मुझे साहस बँधा जाती !

● सितम्बर १३, १९५८

वट का बिरवा

ओ मेरे भगवान !
(अगर तेरा अस्तित्व कहीं है
और नियति का मेरी कर्ता
कोई तेरे सिवा नहीं है।)
ले मेरा आभार !
कि मुझको नहीं बनाया तूने उल्का—
चमक उठूं नभ के टिम-टिम तारों में क्षण-भर,
चकाचौंध भर दूं—
अम्बर को नापूं
औ' दूजे क्षण अपनी ही गति से मिट जाऊँ !

ले मेरा आभार !
कि तूने मुझे बनाया वट का बिरवा
धरती की मिट्टी पर पनपूं,
सूरज की किरणों से क्षण-क्षण जीवन पाऊं,
उठूं, बढ़ूं, फूलूं, फैलूं,
धरती पर छाऊँ !
और थके-हारे पथिकों की श्रांति मिटाऊँ ! !

● सितम्बर १०, १९५७

वयस का कार्तिक

आह ! हिम से ढँके शिखर निरीह-से
(मेरे हृदय के अद्रि के)
भोली निगाहों से निरखते—
नील अम्बर के सुखद विस्तार को,
संसार को।
रंगीनियाँ जिसमें
सबेरे-साँझ का दिनकर,
अँधेरी रात के तारे,
उजेले पाख का शशधर,
उमड़ती प्रेरणा के पंख पर उड़ते हुए साधक चितेरे-सी—
बिखरती कल्पना के सम्पुटित-से पल घनेरे-सी—
नये दिन नित नयी ही
आँक देता है।

झाँक लेता है
हृदय (मुड़कर गहनतर गह्वरों में)
काँप जाता है।

शिखर उसके (हैं ढके जो दूधिया हिम से)
अभी थे कल तलक काले--
नुकीले,
तेज़ भाले,
सर निकाले, भेदते आकाश का सीना।
कहाँ था हिम ? महीना
था भरा सावन,
तड़पती आँधियाँ, ले अंक में अपने उमड़ते घन
गरजती, कड़कती, धूमें मचाती,
बरसती,
खुल खेलती थीं।

झेलती थी देह उनका ताप, उनका शाप,
लेकिन आज अपने-आप
जैसे जम गयी है बर्फ़,
सब कालिख मिटी
तुन्दी गयी
हल्की हवाएँ मेघ रीते अंक में ले
रमकती हैं।

गमकती हैं
मन्द-तर आकांक्षाएँ,
लहर जैसे बुझ रही जीवन-शिखा की
साँप के घायल, पिसे तन में
अचानक रेंग जाये,

और दूजे क्षण धरा पर
रज्जु-सा निष्प्राण फिर वह नज़र आये।

क्या बताये—
काँप जाता है—हृदय।
(यह सत्य है)
इस दूधिया हिम के कहीं नीचे,
किसी भयभीत घोंघे-सी नयन मींचे,
छिपाये सींग,
तकती बाट अवसर की,
कसकती
है वही कालिख,
नुकीली धार कर दी कुन्द जिसकी
कार्तिक ने वयस के!

आह! हिम से ढके शिखर निरीह-से!

● सितम्बर १८, १९५७

अप्रेल की चाँदनी

नदी का ज्वार मिट गया है
धारा क्षीण से क्षीणतर हो गयी है
और कछारों तक फैली रेत पर
अप्रैल की चाँदनी बिखरी है।

चाहता है मन—
जब यह क्षीण-सी धार भी
बढ़ी आती रेत में समा जाय,
चाँदनी ऐसे ही मुस्कराय !

मैं तुम्हारा आभारी हूँ !
मैंने तुम्हारी आँखों में सद्य-खिले मुस्कराते गुलाब-सी
मुहब्बत देखी
और लपलपाती तलवारों-सी
नफ़रत !

किन्तु नफ़रत की वे लपलपाती तलवारें
तुमने सदा अपनी आँखों के म्यानों में समेट लीं
और मेरे लिए होंठों पर गुलाबी मुस्कान बिखेर ली।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ!

तुम्हारा प्यार—
अप्रेल की चाँदनी है
और नफ़रत—
दिसम्बर की अमा!
तुमने सदा मुझे स्निग्ध चाँदनी से नहलाया है
और स्वयं अमा के शीत में अकेली ठिठुरी हो।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ।

मुझे लगता था—
मैं अपना पुरुषत्व, अपना पुंसत्व—सब बिसार चुका हूँ,
सदियों से जमे ग्लेशियरों की काली-काली बर्फ़
मेरे अंगों में समा गयी है।
तन-मन से हार चुका हूँ।
लेकिन तुमने—
ओ मूर्तिमती ममता, ओ साक्षात् संजीवनि,
अपने पतले-पतले होंठों की अजब-सी प्यार-भरी स्निग्धता से
मेरे मस्तक को, नयनों को, होंठों को
मेरे अंग-अंग को ऐसे छुआ—
कि मेरी सारी थकन दूर हो गयी।
अन्यमनस्कता शिथिल पड़ गयी।

मेरा वर्षों से भूला-बिसरा, सोया पुरुष
अप्रतिहत शक्ति के बवंडर-सा जाग उठा।
दुनिया-भर पर छा जाने की प्रबल आकांक्षा को
अपनी भुजाओं में बाँध, उठा।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ।

जो बच्चे की तरह तुम्हारी गोद में आ गिरा,
तुमने अपनी ममता निर्द्वन्द्व उस पर वार दी।
जिसने तुम्हें बहन की संज्ञा दी,
तुमने अपने निश्च्छल स्नेह की उस पर बौछार की।
जिसने तुम्हें मित्र कहकर पुकारा—
अपने विश्वास की अमूल्य निधि उसके आगे हार दी!
लेकिन मुझे—
मुझे तुमने
माँ की ममता, बहन का स्नेह, प्रेयसि का प्यार
और संगिनी की आस्था दी।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ।

मेरे विश्वासघात को भूलकर तुमने मुझे विश्वास दिया;
मेरी निठुराई से प्यार किया;
मेरी चिड़चिड़ाहट पर दया की;
मेरा क्रोध और खीझ क्षमा की;
मेरे दुर्गुणों में गुण दिखाकर
मेरे हारे-थके मन को
आत्मविश्वास और क्षमता दी।

ओ दिन की गर्मी से तपे हुए तन-मन को
सुख-शीतलता देने वाली चाँदनी !
जीवन के संघर्ष
मित्रों की बेवफ़ाई
बड़ों की ईर्ष्या, छोटों के विद्वेष
औ' बराबर वालों की सचेत उपेक्षा से भुलसकर
जब-जब मैं तुम्हारे पास आया,
मैंने तुम्हारे अंक में त्राण पाया।
मैं तुम्हारा आभारी हूँ !

● अप्रैल १२, १९५७